इकाई 5 भारतीय काव्यशास्त्र के प्रमुख संप्रदाय-I

इकाई की रूपरेखा

5.0 उद्देश्य
5.1 प्रस्तावना
5.2 संस्कृत काव्यशास्त्र की चिंतन दृष्टि
5.3 रस-सिद्धान्त (रस संप्रदाय)
5.3.1 विचारभूमि
5.3.2 'रस' शब्द के विभिन्न अर्थ
5.3.3 रस के अंग : रसाभिव्यक्ति के साधन
5.3.4 रस विषयक संक्षिप्त इतिवृत्त तथा रस का महत्व
5.4 अलंकार-सिद्धान्त (अलंकार संप्रदाय)
5.4.1 'अलंकार' शब्द का व्युत्पत्तिपरक अर्थ
5.4.2 अलंकारवादी आचार्य और इनका अलंकार-सिद्धान्त
5.4.3 अलंकार-सिद्धान्त की स्वीकृति तथा अलंकार का मान्य रूप
5.4.4 काव्य में अलंकार के प्रयोग का औचित्य एवं मूल्यांकन
5.4.5 काव्य में अलंकार का औचित्यपूर्ण निर्वहण
5.4.6 अलंकारों की संख्या और प्रकार
5.4.7 अलंकार और अलंकार्य
5.5 रीति-सिद्धान्त (रीति संप्रदाय)
5.5.1 'रीति' शब्द का व्युत्पत्तिपरक अर्थ
5.5.2 वामन से पूर्व रीति और गुण विषयक चर्चा
5.5.3 वामन सम्मत रीति और गुण
5.5.4 वामन सम्मत शब्दगुण और अर्थगुण
5.5.5 रीति-सिद्धान्त की अस्वीकृति अथवा खण्डन
5.5.6 रीति और गुण का अंततः मान्य स्वरूप
5.5.7 संघटना, रचना-शैली अथवा रीति प्रयोग के नियामक तत्व
5.5.8 पाश्चात्य काव्यशास्त्र की दृष्टि में रीति (शैली)
5.6 कुछ उपयोगी पुस्तकें
5.7 अभ्यास के लिए प्रश्न

5.0 उद्देश्य

प्रस्तुत इकाई को पढ़ने के बाद आप

- संस्कृत काव्यशास्त्र की चिंतन-दृष्टि का परिचय दे सकेंगे,
- विभिन्न संप्रदायों और उनके आचार्यों के विषय में बता सकेंगे,
- रस, अलंकार और रीति संप्रदाय की जानकारी दे सकेंगे तथा उनकी शक्ति और सीमाओं का उल्लेख कर सकेंगे।

5.1 प्रस्तावना

पिछले खंड में भारतीय काव्यशास्त्र का अध्ययन करते हुए अभी तक हम यह विचार कर चुके हैं कि काव्य या साहित्य का लक्षण यानी परिभाषा क्या है, काव्य रचना किन कारणों अथवा हेतुओं से होती है तथा काव्य का प्रयोजन अथवा उद्देश्य क्या है। प्रस्तुत खंड में आप काव्य-सिद्धांतों के विषय में पढ़ेंगे। इससे भारतीय साहित्य-चिंतन की परंपरा और उसमें विकसित विभिन्न मतों की जानकारी आपको मिलेगी। साहित्य चिंतन विषयक छः सम्प्रदायों में से तीन - रस-सिद्धांत, अलंकार-सिद्धांत, रीति-सिद्धांत - की चर्चा इस इकाई में की गई है और शेष तीन सिद्धांतों की चर्चा इकाई 6 में है।

5.2 संस्कृत काव्यशास्त्र की चिंतन-दृष्टि

भरतमुनि से लेकर पंडितराज जगन्नाथ तक लगभग डेढ़ दो हजार वर्ष तक फैली हुई संस्कृत काव्यशास्त्र की परंपरा में विभिन्न काव्य सिद्धांतों का प्रतिपादन और खंडन-मंडन होता रहा। ये सिद्धांत कई विचारधारात्मक दृष्टियों के माध्यम से प्रवर्तित-प्रतिपादित हुए जिन्हें 'भारतीय काव्यशास्त्र के

संप्रदाय' कहा जाता है। ये संप्रदाय मुख्यतया छह हैं और इन संप्रदायों तथा इनके प्रणेता आचार्यों के नाम इस प्रकार हैं -

1. रस संप्रदाय - भरत मुनि
2. अलंकार संप्रदाय - भामह
3. रीति संप्रदाय - वामन
4. ध्वनि संप्रदाय - आनंदवर्धन
5. वक्रोक्ति संप्रदाय - कुंतक
6. औचित्य संप्रदाय - क्षेमेंद्र

भारतीय काव्यशास्त्र के इन संप्रदायों का विवेचन यहाँ दो इकाइयों (इकाई 5-6) में किया गया है। इन इकाइयों के अध्ययन से आप न केवल भारतीय साहित्य सिद्धांतों की चिंतन परंपराओं के समग्र परिप्रेक्ष्य को व्यापकता से समझ सकेंगे बल्कि काव्य के संदर्भ में उनकी प्रासंगिकता-अप्रासंगिकता को भी पहचान सकेंगे।

भारतीय काव्यशास्त्र संबंधी उपर्युक्त छः संप्रदाय वस्तुतः काव्य (साहित्य) संबंधी विभिन्न प्रश्नों और शंकाओं को उठाने और उनका उत्तर देने की खंडन-मंडन की प्रक्रिया के द्योतक हैं। भारतीय आचार्यों की परंपरा रही है कि वे किसी मत अथवा विचारधारा को आँख मूँद कर स्वीकार नहीं कर लेते। भारतीय काव्यशास्त्र में विकसित होने वाले संप्रदाय इस बात का प्रमाण हैं कि सिद्धांतों को लेकर निरंतर शंकाएँ उठाई गईं। प्रत्येक संप्रदाय की विचारधारा या मत या सिद्धांत पर करारी बहसें की गईं और खंडन-मंडन के माध्यम से निष्कर्ष निकाले गए।

भारतीय काव्यशास्त्र के इन संप्रदायों के अध्ययन से आपको यह स्पष्ट होगा कि कविता का प्राणतत्व क्या है। संस्कृत आचार्य आत्मा और देह में बराबर अंतर करते रहे हैं। इसलिए दो तरह की विचार धाराएँ बराबर सक्रिय रहीं - पहली, आत्मा को प्रधानता देने वाली विचारधारा जिसके अंतर्गत रस-संप्रदाय, ध्वनि-संप्रदाय और औचित्य-संप्रदाय को स्थान मिला। दूसरी, काव्य शरीर को प्रधानता देने वाली विचारधारा जिसके अंतर्गत अलंकार संप्रदाय, रीति-संप्रदाय और वक्रोक्ति संप्रदाय को। आत्मावादी और शरीरवादी इन दोनों चिंतन परंपराओं में इस बात को लेकर गंभीर विचार होता रहा कि साहित्य का प्राणतत्व क्या है। काव्य की आत्मा क्या है? यह प्रश्न लगातार बहस का मुद्दा बना रहा। आत्मा शब्द दर्शन का है और भारतीय काव्यशास्त्र व्याकरण तथा दर्शन से अभिन्न हो कर ही आगे बढ़ा है। शब्द और अर्थ के सहभाव का नाम साहित्य है लेकिन इस बात पर विवाद उठा कि शब्द और अर्थ में प्रधान कौन है। शब्द को प्रधानता देने वाली परंपरा शरीरवादी और अर्थ को प्रधानता देने वाली परंपरा आत्मावादी कहलायी। लंबी बहसों और विचार-विनिमय के पश्चात यह निष्कर्ष पाया जा सका कि काव्य की आत्मा न तो रस है न ध्वनि और न औचित्य। काव्य की आत्मा तो रस-ध्वनि ही कही जा सकती है।

काव्य के संदर्भ में 'आत्मा' शब्द लाक्षणिक अर्थ में प्रयुक्त होता रहा है। मूलतः आत्मा दर्शन में चिंतन का विषय रहा जिसमें सार तत्व की खोज प्रमुख रही। जैसे आत्मा जीवित प्राणी की संपूर्ण चेतना का पर्याय है जिसके न रहने पर शरीर मृत या निरर्थक हो जाता है उसी तरह खोज का विषय यह रहा है कि काव्य का प्राणतत्व या जीवन तत्व क्या है या किसे कह सकते हैं। यह चिंतन काव्यशास्त्र के संप्रदायों या परंपरा के अंतर्गत हुआ।

संप्रदाय का अर्थ : एक विचार को स्वीकार करते हुए उसे आगे बढ़ाने वाले विद्वान एक संप्रदाय के विद्वान कहलाते हैं। संप्रदाय का अर्थ होता है धरोहर। गुरु-शिष्य-परंपरा या विचार की धरोहर को मथकर चमकाने वाले लोग एक संप्रदाय के लोग कहलाते हैं। इस तरह संप्रदाय के मायने हैं School of thought. उदाहरण के लिए अलंकार संप्रदाय को ही लें। इस संप्रदाय की स्थापना भामह ने की थी। दंडी, उद्भट, रुद्रट, रुय्यक आदि अनेक प्रतिभाशाली व्यक्तियों ने भामह की स्थापना को आगे बढाया और यह चिंतन परंपरा आधुनिक काल तक सक्रिय रही है। अतः अलंकार संप्रदाय से तात्पर्य है उन विचारकों की परंपरा से है जिन्होंने रस और ध्वनि सिद्धांतों के प्रतिष्ठित हो जाने के पूर्व अथवा पश्चात् अलंकार को ही काव्य की उत्कृष्टता को प्रमुख साधन माना है। भामह के अनुसार अलंकार ही काव्य का अनिवार्य प्राण तत्व है। भामह की इस स्थापना का अलंकारवादी सभी आचार्य पोषण करते रहे हैं।

यहाँ पर भारतीय काव्यशास्त्र में विकसित होने वाले संप्रदाय और इनसे संबद्ध आचार्यों की ऐतिहासिक क्रम की एक संक्षिप्त जानकारी अपेक्षित है ताकि विभिन्न संप्रदायों को आचार्यों के बीच उभरने वाले संवादों, विवादों और मतभेदों से ऐतिहासिक विकासक्रम में परिचित हुआ जा सके।

रस-सिद्धांत से संबंधित सामग्री हमें सब से पहले **भरत** के 'नाट्यशास्त्र' में और इसके बाद भरत के परवर्ती प्रायः सभी काव्याचार्यों के ग्रंथों में मिलती है। भरत ने रस के अतिरिक्त अलंकार, गुण, रीति, दोष आदि पर भी प्रकाश डाला था, पर बहुत कम।

भरत-परवर्ती आचार्यों में सबसे पहले ये तीन आचार्य एक साथ उल्लेख्य हैं - **भामह, दंडी और उद्भट**। इनका समय क्रमशः छठी, सातवीं और नवीं शती ई. है। ये तीनों आचार्य '**अलंकारवादी**' कहलाते हैं। इनके बाद नवीं शती में **वामन** हुए। ये **रीतिवादी आचार्य** हैं। इनके बाद नवीं शती में ही **आनन्दवर्धन** ने '**ध्वनि-सिद्धांत**' का प्रवर्तन किया और इनके बाद दसवीं-ग्यारहवीं शती में **कुन्तक** ने 'वक्रोक्ति-सिद्धांत' का। इन सब के अनन्तर ग्यारहवीं शती में **क्षेमेन्द्र** ने **औचित्य-तत्व** या 'औचित्य-सिद्धांत' पर विस्तारपूर्वक प्रकाश डाला।

इनके अतिरिक्त अन्य प्रख्यात आचार्य हैं जिन्होंने किसी नवीन सिद्धांत का प्रवर्तन अथवा प्रतिपादन को नहीं किया, पर पूर्ववर्ती काव्यशास्त्रीय सिद्धांतों एवं मान्यताओं को व्याख्यायित और व्यवस्थित रूप में संग्रहीत किया। ये आचार्य हैं - **अभिनव गुप्त** (11वीं शती), **मम्मट** (11वीं शती), **विश्वनाथ** (14वीं शती) और **पंडितराज जगन्नाथ** (17वीं शती)।

यों तो अन्य भी अनेक उल्लेखनीय काव्याचार्य हैं, जैसे महिमभट्ट, (11वीं शती) जयदेव (13वीं शती) भानुमिश्र (13-14वीं शती) आदि। किंतु, संस्कृत-काव्यशास्त्र के क्षेत्र में उपर्युक्त आचार्यों का योगदान अति महत्वपूर्ण है। तो आइए, इनके नाम एक बार फिर पढ़ ले -- (1) भरत (रसवादी), (2) भामह, दंडी और उद्भट (अलंकारवादी), (3) वामन (रीतिवादी,), (4) आन्दवर्धन (ध्वनिवादी), (5) कुन्तक (वक्रोक्तिवादी) और (6) क्षेमेन्द्र (औचित्य-तत्व का निरूपक)। इनके अतिरिक्त मम्मट, विश्वनाथ और जगन्नाथ संग्रहकर्ता आचार्य हैं। इस प्रकार भरत से जगन्नाथ पर्यन्त लगभग डेढ-दो हजार वर्ष तक संस्कृत-काव्यशास्त्र में विभिन्न सिद्धांत प्रवर्तित, प्रतिपादित और खंडित-मंडित होते रहे। जैसा कि आप आगे देखेंगे ये संप्रदाय आपस में, किसी न किसी रूप में, जुड़े हुए हैं और ये सभी 'साहित्य-सिद्धांत' के अंग हैं।

प्रश्न उठता हैं कि साहित्य-सिद्धांत अथवा काव्यशास्त्र का अध्ययन क्यों किया जाए : इस अध्ययन से शिक्षार्थी अथवा सामान्य पाठक को अनेक लाभ होते हैं -

1. उसे इससे साहित्य (काव्य) के विविध रूपों की जानकारी मिलती है। उसे ज्ञात होता है कि काव्य दो प्रकार का होता है - पद्यबद्ध और गद्यबद्ध।

   पद्यबद्ध काव्य मुक्तक और प्रबंध रूप में होता है (1) मुक्तक काव्य - जैसे बिहारी के दोहे, गिरिधर कविराय की कुंडलियाँ आदि। (2) प्रबंध काव्य के दो रूप होते हैं -- महाकाव्य और खंडकाव्य। महाकाव्य - जैसे तुलसीदास - रचित 'रामचरितमानस', जयशंकर प्रसाद- रचित 'कामायनी' आदि; खंडकाव्य - मैथिलीशरण गुप्त - रचित 'पंचवटी' आदि।

   गद्यबद्ध काव्य भी अनेक रूपों में होता है जैसे कहानी, उपन्यास, ललित निबंध, रेखाचित्र आदि। इनके अतिरिक्त काव्य की एक अन्य विधा नाटक है। इसे 'दृश्य काव्य' कहते हैं। इससे इतर, काव्य की उपर्युक्त शेष सभी पद्यबद्ध अथवा गद्यबद्ध विधाएँ 'श्रव्य काव्य' कहलाती है।

2. शिक्षार्थी को काव्यशास्त्र के अध्ययन से से यह ज्ञान होता है कि ये काव्य विधाएँ किन गुणों से संपन्न और किन दोषों से मुक्त होनी चाहिए। इस प्रकार गुण-दोष के ज्ञान के माध्यम से अध्येता में सत्साहित्य की पहचान जागृत होती है और ऐसे काव्य के प्रति उसकी अभिरुचि का विकास एवं परिष्कार होता है। इसके अतिरिक्त काव्यशास्त्र के अध्ययन से सभी पाठक तो नहीं, पर कुछ एक काव्यालोचन के प्रति उन्मुख होने लगते हैं, और इस क्षेत्र में उन्हें पर्याप्त एवं स्वच्छ दिशा-निर्देश मिलता है; और

3. यदि कोई पाठक स्वयं कवि हुआ तो काव्यशास्त्र के अध्ययन से उसका काव्य काव्यशास्त्र में निर्दिष्ट गुणों से, अनायास - स्वतः ही, सम्पन्न, और दोषों से प्रायः अस्पृश्य होने लगता है - यद्यपि कोई भी सच्चा कवि अपनी रचना करते समय इन गुणों के ग्रहण अथवा दोषों के त्याग के प्रति जानबूझकर अवधानवान नहीं होता। उल्लेख्य है कि काव्यशास्त्र के अनेक ग्रंथों में 'काव्य-समय', 'कवि-शिक्षा', 'कवि-समय' आदि ऐसे अनेक प्रसंग भी हैं, जिनसे कवियों को प्रत्यक्ष रूप से तो नहीं, पर परोक्ष रूप से सहायता अवश्य मिलती है।

5.3 रस-सिद्धांत (रस संप्रदाय)

ऊपर रस आदि छह संप्रदायों का नाम लिया गया है -- ये सभी संप्रदाय भारतीय अथवा संस्कृत-काव्यशास्त्र से संबद्ध हैं, यों इन पर पाश्चात्य काव्यशास्त्र में भी परोक्ष रूप से प्रकारान्तर से, विचार प्रस्तुत किए गए हैं। संस्कृत-काव्यशास्त्र का आरंभ भरतमुनि से माना जाता है। ये 'नाट्यशास्त्र' के प्रणेता थे। इनका समय निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता - संभवतः ये तीसरी शती ईसा-पूर्व से तीसरी शती ईस्वी के बीच - इन पाँच-छह सौ वर्षों में - किसी समय रहे हों। माना तो यह भी जाता है कि 'भरत' नाम का कोई व्यक्ति था ही नही। नाट्य (अभिनय आदि) के संबंध में जो सिद्धांत धीरे-धीरे, पाँच-छह शताब्दियों में बनते-पनपते चले आए, उनका संग्रह 'नाट्यशास्त्र' नाम से करके इस का कर्ता 'भरतमुनि' को मान लिय गया। भरत कहते हैं कुशीलव अर्थात् अभिनेता को।

'नाट्यशास्त्र' में रस सिद्धांत का विवेचन है तथा इस पर चिंतन भी अत्यन्त गंभीर रूप से किया गया है। 'नाट्यशास्त्र' में कुल 32 अध्याय हैं। इसके छठे और सातवें अध्याय में क्रमशः रस और भाव का विवेचन है। अतः रस-सिद्धांत को सबसे पहला संप्रदाय माना जाता है। उल्लेख्य है कि रस के क्षेत्र में भरत के बाद सर्वाधिक महत्वपूर्ण नाम अभिनवगुप्त का है, जिन्होंने नाट्यशास्त्र पर 'अभिनवभारती' टीका लिखी।

5.3.1 विचारभूमि

आइए, अब रस-सिद्धांत की चर्चा के अंतर्गत पहले कुछ बुनियादी बाते करें -

1. जीवन में हमारे साथ अनेक घटनाएँ घटित होती हैं, इनसे हमें सुख भी मिलता है और दुःख भी

   क) हम अपने नन्हें भाई अथवा बेटे को गोद में लिये हुए उसे प्यार कर रहे हैं, उससे खेल रहे हैं, वह मुस्करा देता है, अपने दाँतों के बीच हमारी अंगुली भींच कर खुश होता है, कभी किलकारियाँ मारता है, कभी घुटनों के बल चल पड़ता है - यह सब देख हम अति प्रसन्न होते हैं, सुख का अनुभव करते हैं, और जब वह रो पड़ता है तो हमें उसे मनाने में भी आनन्द आता है। पर हमें अपने बच्चे के साथ हँसने-खेलने में जितना आनन्द आता है, उतना आनन्द हमें दूसरों के बच्चों के साथ नहीं आता। इसका कारण है 'निजी अथवा पर का संबंध' - यह बच्चा हमारा है और दूसरा बच्चा किसी और का।

   ख) हमने बस से दुर्घटना-ग्रस्त एक व्यक्त् को मृत अवस्था में पड़े देखा, हमें अति दुख हुआ। उसके दुःखी माता-पिता, भाई-बहन, मित्र आदि सभी क्रन्दन कर रहे हैं। जिस-जिस व्यक्ति का मृत व्यक्ति के साथ जितना निकट का संबंध है वह उतना ही अधिक दुःखी है। इसका कारण भी उपर्युक्त 'निज अथवा पर' का संबंध है।

2. भारतीय चिंतकों ने मन के तीन गुण माने हैं - रजोगुण, तमोगुण और सत्वगुण, अर्थात् हमारा मन सदा इन तीनों गुणों से, न्यून अथवा अधिक रूप में, युक्त रहता है - यों समझिए कि कभी 55% रजोगुण से, 35% तमोगुण से और 10% सत्वगुण से तो कभी इससे क्रमशः न्यून तथा अधिक स्थिति में। पर ऐसा कभी नहीं होता कि ये तीनों गुण साम्यावस्था में हो जाएँ, अथवा इन में से कोई एक गुण नितान्त विनष्ट हो जाए। इस प्रकार उक्त दोनों प्रसंगों में सुख और दुख को अनुभूति के अन्तर्गत 'निज और पर के संबंध' में हम रजोगुण और तमोगुण को आविर्भूत (प्रकटित) मानते हैं और सत्वगुण को तिरोभूत (छिपा हुआ, न कि नितान्त विनष्ट) मानते हैं। पर कुछ ऐसे प्रसंग भी होते हैं जहाँ हम सत्वगुण को आविर्भूत मानते हैं - इसका उद्रेक मानते हैं, इसे प्रधान मानते हैं और शेष दोनों गुणों को तिरोभूत मानते हैं - इन्हें गौण मानते हैं। उदाहरणार्थ, हम तुलसी-रचित 'मानस', सूरदास-रचित 'सूरसागर' में वात्सल्य के पद, और इधर प्रेमचन्द-रचित 'गोदान' उपन्यास अथवा उनकी प्रसिद्ध कहानी 'कफन' पढ़ रहे हैं अथवा कालिदास-रचित 'अभिज्ञानशकुन्तलम्' अथवा मोहन राकेश - रचित 'आषाढ़ का एक दिन' (नाटक) पढ़ रहे हैं तो इन सभी काव्यों के पात्रों के साथ हमारा 'निज अथवा पर' का संबंध नहीं रहता। ये पात्र काव्य के पाठकों और नाटक के दर्शकों में से किसी के भी 'निज अथवा पर' नहीं होते, अपितु ये पात्र इन सब के लिए साझे होते हैं। अतः इस स्थिति में सत्व गुण का उद्रेक माना जाता है, अर्थात सत्वगुण की प्रधानता होती है और अन्य दो गुणों की न्यूनता।

3. काव्य के पाठक अथवा नाटक के दर्शक काव्यशास्त्र की दृष्टि में अब सामान्य मनःस्थिति के मानव नहीं रहते। सामान्य मनःस्थिति के मानव उस स्थिति में कहलाते जब पात्रों के साथ इनका 'निज अथवा पर' का संबंध होता। अब ये 'सहृदय' कहलाते हैं, इनमें सत्व गुण का उद्रेक होता है, ये निज अथवा पर के बंधन से मुक्त होते हैं, अतः इनका मनोमुकुर (मन-रूपी दर्पण) स्वच्छ माना जाता है। कल्पना कीजिए कि 'सत्य हरिश्चन्द्र' (भारतेंदु हरिश्चन्द्र रचित) नाटक को देखते समय मृत रोहिताश्व को देखते ही यदि किसी दर्शक को अपने मृत पुत्र की स्मृति हो आती है, अथवा 'अभिज्ञानशाकुन्तल' को देखते समय यदि किसी दर्शक को अपनी प्रेयसी की स्मृति हो आती है तो उसे तत्क्षण के लिए 'सहृदय' नहीं माना जाता, तब वह नाट्यगृह में बैठा हुआ भी अपनी निजता से ग्रस्त सामान्य मानव होता है।

4. जीवन की सभी घटनाएँ, चाहे वे सुखमय हों अथवा दुखमय, काव्य-नाटक में वर्णित होने पर, सुखमय बन जाती हैं। पर यह काव्य-सुख लौकिक सुख से भिन्न होता है और इस काव्य सुख (काव्यानन्द अथवा काव्याह्लाद) को भारतीय काव्यशास्त्र में रस कहते है और पाश्चात्य काव्यशास्त्र में Aesthic Experience अथवा Aesthetic Bliss कहते हैं।

5. प्रश्न है - माना कि लौकिक सुख काव्य-नाटक में वर्णित होने पर 'काव्य-सुख' (रस) कहलाता है , पर लौकिक दुख, काव्य में वर्णित होने पर 'काव्य-सुख' क्यों कहलाता है ? इसका प्रमुख कारण तो उपर्युक्त सत्व गुण का उद्रेक (आविर्भाव) अर्थात् निज अथवा पर के सम्बन्ध से मुक्ति है, और साथ ही, इनसे जुड़ा हुआ 'साधारणीकरण व्यापार' भी है। इस व्यापार से अभिप्रेत है कि काव्य-नाटक के पात्र अब पाठक तथा दर्शक के लिए 'विशेष न रहकर साधारण बन जाते हैं',[1] दुष्यन्त और शकुन्तला किसी विशिष्ट देश तथा काल के व्यक्ति विशेष न होकर किसी भी देश तथा काल के प्रेमी-प्रेमिका बन जाते हैं। अर्थात् वैयक्तिक न रहकर , निर्वैयाक्तिक हो जाते हैं। इसी प्रकार सत्य हरिश्चन्द्र नाटक में दर्शकों के लिए हरिश्चन्द्र और रोहिताश्व सार्वदेशिक एवं सार्वकालिक पिता-पुत्र रह जाते हैं। तो यही कारण है कि काव्य-नाटक में वर्णित न केवल सुखमय घटनाएँ अपितु दुखमय घटनाएँ भी रस (काव्याह्लाद) प्रदान करती हैं और रस के आस्वादक पाठक को सामान्य मानव न कह कर काव्य-शास्त्र की विशिष्ट अवधारणा में प्रमाता या आस्वादक कहते हैं।

6. हमारे मन में दो प्रकार के भाव होते हैं -

   क) कुछ तो सहजात होते हैं अर्थात् ये हमें हमारे जन्म के साथ ही उपलब्ध होते हैं। जैसे रति, हास, शोक, उत्साह आदि दस। इन्हें काव्यशास्त्र में स्थायीभाव कहते हैं (स्थायी भावों की विस्तृत चर्चा आगे देखिए)।

   ख) कुछ भाव ऐसे होते हैं जो या तो उक्त सहजात भावो से उत्पन्न होते हैं, जैसे रति से उत्पन्न लज्जा, शोक से उत्पन्न विषाद आदि, या ये अर्जित होते हैं - दूसरों द्वारा सिखाये, समझाये, बताये जाते हैं, जैसे देवभक्ति, मातृभक्ति, पितृभक्ति, राजभक्ति, राष्ट्रभक्ति आदि। इन्हें 'संचारी भाव' कहते हैं।

   जब हम काव्य पढ़ते अथवा नाटक देखते हैं तो उक्त दोनों भाव हमें रस (काव्यानन्द) प्राप्त करने की स्थिति तक पहुँचाने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं।

7. क) ऊपर दुष्यन्त और शकुन्तला का उल्लेख किया गया है। इन दोनों के रतिभाव (प्रेमभाव) का वर्णन काव्य-नाटक में किया जाता है तो काव्यशास्त्रीय शब्दावली में ये दोनों 'आलम्बन विभाव' कहलाते हैं। जिसके हृदय में रतिभाव है उसे तत्क्षण के लिए 'आश्रय' कहते हैं, और जिसके प्रति रतिभाव है उसे तत्क्षण के लिए 'आलम्बन' कहते हैं।

   ख) कण्व ऋषि के आश्रम का एकान्त स्थल, नदी-तट, चाँदनी रात आदि प्राकृतिक दृश्य उद्दीपन विभाव कहलाते हैं। इसके अतिरिक्त 'आलम्बन' की बाह्य चेष्टाओं को भी 'उद्दीपन विभाव' कहते हैं, क्योंकि ये आश्रय के रति आदि स्थायिभाव को उद्दीप्त करते हैं। उल्लेख्य है कि आलम्बन-विभाव के उक्त दोनों रूप तथा उद्दीपन विभाव के उक्त दोनों रूप-ये सभी विभाव कहलाते हैं।

   ग) आश्रय की बाह्य चेष्टाएँ अनुभाव कहलाती हैं।

---

[1] असाधारणस्य (विशेषस्य) साधारणकरणम इति साधारणीकरणम

घ) आश्रय और आलम्बन - इन दोनों के आन्तरिक मनोभावों को संचारी भाव कहते हैं, जैसे निर्वेद, ग्लानि, शंका आदि।

रस 'वाच्य' न होकर व्यंग्य होता है। इस का अभिप्राय यह है कि सहृदय को रस का आस्वाद रस, रति, लज्जा, शृंगार आदि शब्दों के कथन से प्राप्त नहीं होता, जैसे कि 'चन्द्र-मण्डल को देख उसका चित शृंगार में मग्न हो गया'।[1] अथवा 'उस मृगाक्षी को देखते ही हममें रस 'शृंगार रस' का संचार हो गया,'[2] आदि । इस प्रकार रस 'वाच्य' (कथन द्वारा बोध्य) नहीं होता।

यों कहें कि अभिधा व्यापार से रस का बोध नहीं होता -- यह शब्दों से न कहा जाकर, व्यंग्य (ध्वनित गम्य) होता है, अर्थात् यह व्यंजना-व्यापार से व्यंजित, ध्वनित, गमित (Suggested Inferred) होता है। इसके उदाहरण के लिए आगे देखिए 'पीतम दृग मिहचत पिया.....' आदि (बिहारी)।

यहाँ तक आपकों जिन पारिभाषिक शब्दों का ज्ञान हुआ वे हैं - (1) शृंगार आदि दस रस (2) रति आदि दस स्थायी भाव, (3) विभाव के दो भेद - आलम्बन विभाव; और उद्दीपन विभाव, (क) आलम्बन विभाव के दो रूप - आश्रय और आलम्बन, (ख) उद्दीपन विभाव के भी दो रूप - आलम्बन की बाह्य चेष्टाएँ तथा प्राकृतिक दृश्य, (4) अनुभाव (आश्रय की बाह्य चेष्टाएँ), (5) संचारी भाव (आश्रय और आलम्बन दोनो के मनोभाव), (6) सहृदय, (7) सहृदय के मन में सत्व गुण का उद्रेक, अर्थात् उसमें इस गुण का आविर्भाव होना तथा रजोगुण और तमोगुण का तिरोभाव होना परिणामतः, 'निज और पर के संबंध का मिट जाना।'

उल्लेख्य है कि स्थायी भाव, विभाव, अनुभाव और संचारी भाव इन चारों को **'रस के अंग'** अथवा **'रसाभिव्यक्ति के साधन'** कहते हैं। रस विषयक उपर्युक्त बुनियादी बातों के बाद अब रस से संबंधित निम्नोक्त चार प्रश्नों पर विचार करना अपेक्षित है - (1) रस के अंग, (2) रस का स्वरूप, (3) रस-निष्पत्ति और (4) साधारणीकरण। इनमें से अंतिम तीन पर इकाई 7 और 8 के अंतर्गत आपको सामग्री भेजी जाएगी। यहाँ केवल 'रस के अंग' पर विचार किया जा रहा है। रस के अंग की चर्चा से पहले रस के अर्थ पर विचार किया जाएगा।

5.3.2 'रस' शब्द के विभिन्न अर्थ

उपर्युक्त चारों विषयों पर विचार करने से पूर्व यह उल्लेख्य है कि 'रस' शब्द काव्यानन्द का पर्याय तो है ही, साथ ही यह शब्द अन्य तीन अर्थों में - कुल मिलाकर निम्नोक्त चार अर्थों में - प्रयुक्त होता है

1. पदार्थों का रस, अर्थात्, मधुर, अम्ल, लवण, कटु, कषाय और तिक्त - ये षडरस अथवा 'आस्वाद'।
2. आयुर्वेद का रस, अर्थात् किसी एक अथवा अनेक ओषधियों से आयुर्वेदीय प्रक्रिया द्वारा तैयार किया गया द्रव। यह द्रव (रस) भी उपर्युक्त मधुर आदि छह आस्वादों में से किसी एक अथवा एकाधिक आस्वाद से युक्त होता है, पर इसमें रोग विनाशक अथवा शक्तिदायक गुण भी रहता है। वैदिक कालीन 'सोमरस' में प्रयुक्त 'रस' शब्द इसी औषधीय गुण का द्योतक है।
3. साहित्य का रस - काव्य का रस जिसे काव्य सौंदर्य, काव्यास्वाद, काव्यानन्द तथा काव्याह्लाद भी कहते हैं। यही 'रस' ही हमारा वर्णनीय विषय है। इस पर आगे प्रकाश डाला जा रहा है।
4. मोक्ष या भक्ति का रस या ब्रह्मानंद : आत्मा द्वारा ब्रह्म की प्राप्ति का आनन्द जो आत्मानन्द का वाचक होता है। उल्लेख्य है कि काव्य रस को 'ब्रह्मानन्द-सहोदर' कहा भी गया है। (पढ़िए इकाई 7 : 'रस की परिभाषा, स्वरूप और रस निष्पत्ति')

ऐसा प्रतीत होता है विभिन्न पदार्थों के आस्वाद तथा विभिन्न ओषधियों से निचुड़े हुए रस (द्रव) के आस्वाद के अनुरूप काव्य के आनन्द को भी रस कहा जाने लगा, और साथ ही, आत्मा द्वारा ब्रह्म-प्राप्ति को भी। इस प्रकार यह शब्द भौतिक अर्थ में भी प्रयुक्त होता है तथा आध्यात्मिक अर्थ में भी। काव्य का आनन्द भौतिक है अथवा आध्यात्मिक - इस सम्बन्ध में 'रस का स्वरूप' के अन्तर्गत प्रकाश डाला जाएगा।

---

[1] चन्द्रमण्डलमालोक्य शृंगारे मग्नमन्तरम्

[2] तामवीक्ष्य करंगाक्षीं रसो न कोऽप्यजायत

5.3.3 रस के अंग : रसाभिव्यक्ति के साधन

रस निष्पत्ति के संबंध में भरत का प्रख्यात सिद्धान्त-कथन (सूत्र) है - **विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्र रसनिष्पत्तिः**। इस कथन का तात्पर्य यह है कि स्थायी भाव का संयोग जब विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भाव अथवा संचारी भाव से होता है तो स्थायी भाव 'रस' रूप में निष्पन्न हो जाता है। ये चारों रस के अंग कहलाते हैं। अब इनका स्वरूप प्रस्तुत है -

1. **स्थायी भाव** - सहृदय के अन्त:करण में जो मनोविकार वासना रूप से सदा विद्यमान रहते हैं तथा जिन्हें अन्य कोई भी अविरुद्ध अथवा विरुद्ध भाव दबा नहीं सकता उन्हें स्थायी भाव कहते हैं। यह स्थायी भाव ही (रस रूप) आस्वाद का अंकुरकन्द अर्थात् मूलभूत है।[1]

   जिस प्रकार मिट्टी में पूर्व-विद्यमान गन्ध जल का संयोग पाकर प्रकट हो जाती है, उसी प्रकार स्थायी भाव विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भाव के संयोग से व्यक्त होने पर साहित्यिक भाषा में 'रस' नाम से पुकारे जाते हैं। जिस प्रकार किसी खट्टे पदार्थ के संयोग से दूध 'दही' के रूप में परिणत हो जाता है, उसी प्रकार विभाव आदि के संयोग से स्थायी भाव अपने चर्व्यमाण रूप में परिणत होकर 'रस' नाम से अभिहित होते हैं।

   स्थायी भावों की संख्या सामान्यत: नौ मानी जाती है -- रति, हास, शोक, उत्साह, क्रोध, भय, जुगुप्सा, विस्मय और निर्वेद। कई आचार्य निर्वेद को स्वीकार नहीं करते। उनके अनुसार स्थायी भाव आठ हैं। ये क्रमश: निम्नोक्त रसों के रूप में निष्पन्न (अथवा अभिव्यक्त) होते हैं - शृंगार, हास्य, करूण, वीर, रौद्र, भयानक, वीभत्स, अद्भुत और शान्त। इनके अतिरिक्त एक अन्य रस वत्सल रस भी माना जाता है जिसका स्थायी भाव 'वात्सल्य' है।

2. **विभाव** - रस के कारण को विभाव कहते हैं। लोक में जो पदार्थ सामाजिक के हृदय में वासना रूप से स्थित रति, उत्साह, शोक आदि भावों के उद्बोधक हैं, वे काव्य-नाटकादि में वर्णित होने पर शास्त्रीय शब्दों में विभाव कहलाते हैं।[2] विभाव के दो भेद हैं -- आलम्बन विभाव और उद्दीपन विभाव।

   क) **आलम्बन विभाव** - काव्य-नाटकदि में वर्णित जिन पात्रों को आलम्बन करके सामाजिक के रत्यादि स्थायी भाव रसरूप में अभिव्यक्त (परिणत) होते हैं, उन्हें आलम्बन विभाव कहते हैं, जैसे शृंगार रस में नायक - नायिका आदि। आलम्बन - विभाव के दो भेद हैं, विषय और आश्रय। विषय को 'आलम्बन' भी कहते हैं। जिस पात्र के प्रति किसी के मन में भाव जागरित होते हैं वह आश्रय कहलाता है, उदाहरणार्थ, 'अभिज्ञान शकुन्तलम्' नाटक में दुष्यन्त के मन में शकुन्तला को देखकर भाव - रति भाव - जागृत होता है। शांकुतला को 'आलम्बन' कहेंगे और दुष्यन्त को 'आश्रय'।

   ख) **उद्दीपन विभाव** - उद्दीपन विभाव वे कहलाते हैं जो रस को उद्दीप्त करते हैं -- अर्थात् जो रत्यादि स्थायी भावों को उद्दीप्त करके उनकी आस्वादन-योग्यता बढ़ाते हैं और इस प्रकार उन्हें रसावस्था तक पहुँचाने में सहायक होते हैं। उद्दीपन विभाव दो प्रकार के माने गये हैं---(1) आलम्बन-गत चेष्टाएँ,(2) बाह्य वातावरण। उदाहरण के रूप में, शृंगार रस में दुष्यन्त (आश्रय) के रतिभाव को अधिक तीव्र करने वाली शकुन्तला (आलम्बन) की कटाक्ष, भुजा-विक्षेप आदि चेष्टाएँ उद्दीपन विभाव कहलाती हैं। इसी प्रकार शृंगार रस में नदी तट, पुष्पवाटिका, चाँदनी रात इत्यादि बाह्य वातावरण, जोकि आश्रय के स्थायी भावों को उद्दीपन करता है, 'उद्दीपन विभाव' कहलाता है।

3. **अनुभाव** - रत्यादि स्थायी भावों को प्रकाशित करने वाली आश्रय की बाह्य चेष्टाएँ जो लोक में कार्य कही जाती हैं, काव्य-नाटक में वर्णित अथवा दर्शित होने पर, अनुभाव कहलाती हैं।[3] उदाहरणार्थ -- विप्रलम्भ शृंगार में विरह-व्याकुल नायक द्वारा सिसकियाँ भरना, अपने बाल

---

[1] अविरूद्धा विरूद्धा वा यं निरोद्धातुमक्षमा:।
आस्वादइकुरकन्दोऽसौ भाव: स्थायीति संमत: ।। साहित्यदर्पण 3.174

[2] रत्याद्युद्बोधका लोके विभावा: काव्यनाट्ययो: । वही 3.28

[3] उद्बुद्धे कारणै: स्वै: स्वैर्बहिर्भावं प्रकाशयन्।
लोके य: कार्यरूप सोऽनभाव काव्यनाट्ययो: ।। वही 3.132-133

नोचना, आँखों फाड़े शून्य की ओर ताकना आदि बाह्य चेष्टाएँ अनुभाव कहलाती हैं। इसी प्रकार संयोग शृंगार में रति जागरित होने पर दुष्यन्त का सानुराग अवलोकन, अंगसंचालन, भ्रूविक्षेप इत्यादि, ये सभी आश्रयगत बाह्य चेष्टाएँ अनुभाव कहलाती हैं। अनुभाव के चार रूप माने गये हैं - आंगिक, वाचिक, आहार्य (वेशभूषा) और सात्विक। सात्विक भाव आठ माने गये हैं - स्तम्भ, स्वेद, रोमांच, स्वरभंग, वेपथु, वैवर्ण्य, अश्रु और प्रलय। अनुभाव के उक्त चार रूपों में से प्रथम तीन अनुभाव 'यत्नज' कहलाते हैं, क्योंकि नाटक में तो इनके निर्वहण में आश्रय को चेष्टा करनी पड़ती उदाहरणार्थ क्रुद्ध परशुराम द्वारा कुल्हाड़ा उठाना आदि बाह्य चेष्टाएँ आंगिक अनुभाव हैं, आँखें लाल हो जाना आदि सात्त्विक अनुभाव।

4. **संचारी भाव (व्यभिचारी भाव)** - अस्थिर मनोविकार अथवा चितवृत्तियाँ 'संचारी भाव' कहलाती हैं, ये विकार आश्रय और आलम्बन के मन में उन्मग्न और निर्मग्न होते रहते हैं। संचारी शब्द का अर्थ है साथ-साथ चलना तथा संचरणील होना। संचारी भाव स्थायी भावों के सहकारी कारण हैं, उन्हें रसावस्था तक ले चलते हैं, पर स्वयं बीच में जलतरंगवत् आविर्भूत तथा तिरोभूत होते रहते हैं।

संचारी भाव, मन के विकार हैं, जये शरीर के धर्म नहीं है। यद्यपि मनोविकारों की कोई संख्या नियत नहीं की जा सकती, तथपि सुविधा के लिए संचारी भावों की संख्या 33 निर्धारित की गयी है - निर्वेद, ग्लानि, शंका, असूया, मद, श्रम, आलस्य, दीनता, चिन्ता, मोह, स्मृति, धृति, व्रीड़ा, चापल्य, हर्ष, आवेग, जड़ता, गर्व, विषाद, औत्सुक्य, निद्रा, अपस्मार, स्वप्न, विबोध, अवमर्ष, अवहित्था, उग्रता, मति, व्याधि, उन्माद, मरण, त्रास और वितर्क। किन्तु संचारी भावों की यह 33 संख्या कम से कम संख्या की ही द्योतक है, संचारी भाव तो अनन्त हो सकते हैं। स्वयं इन 33 संचारी भावों के परस्परिक मिश्रण से ही यह संख्या सहस्रों तक पहुँच सकती है।

संचारी भावों को 'व्यभिचारी भाव' भी कहते हैं, क्योंकि ये प्रत्येक स्थायी भाव के साथ विशेष रूप से अभिमुख होकर - उसके अनुकूल (सहायक) बन कर - चलते हैं। प्रत्येक स्थायी भाव का रस नियत है, पर प्रत्येक संचारी भाव का स्थायी भाव नियत नहीं है। एक संचारी भाव कई स्थायी भावों के साथ अभिमुख होकर चलता है, अतः यह 'व्यभिवारी भाव' भी कहलाता है।

अंतत: उल्लेख्य है कि

- रसास्वादन-प्रक्रिया में यद्यपि विभाव, अनुभाव और व्यमिचारीभाव खण्डश: एक-एक करके प्रतीत होते हैं (यह अलग प्रश्न है कि उनकी यह खण्डश: प्रतीति अति त्वरित होने के कारण लक्षित नहीं होती); पर रस-प्रतीति में ये तीनों अखण्ड एवं संश्लिष्ट रूप में ही सहायक होते हैं, तभी रस को भी 'अखण्ड' अथवा 'विभादिसमूहालम्बनात्मक' माना गया है।
- इसके अतिरिक्त रस-प्रतीति में विभावादि समान रूप से सहायक होते हैं। यही कारण है कि किसी रचना में विभावादि में से केवल, किसी एक का वर्णन होने पर भी शेष दो भावों की समान-रूप से आक्षेप द्वारा स्वत: प्रतीति होने पर ही रसचर्वणा सम्भव है, अन्यथा नहीं। उदाहरणार्थ:

(क) तीनों साधनों की विद्यमानता :

पीतम दृग मिहचत प्रिया, पानि परस सुख पाइ।
जानि पिछानि अजान लौं, नेकु न होति जनाइ।। — बिहारी

इस पद्य में प्रीतम और प्रिय आलम्बनविभाव (क्रमश: आलम्बन और आश्रय) हैं। आँखें मींचना अनुभाव है। स्पर्श द्वारा सुख (हर्ष, मद, मोह, आवेग आदि) की प्राप्ति संचारी भाव है। सहृदय के चित्त में वासना रूप से स्थित रति नामक स्थायी भाव इन तीनों का संयोग पाकर शृंगार रूप में अभिव्यक्त होता है।

(ख) विभाव और अनुभाव की विद्यमानता :

बतरस लालच लाल की, मुरली धरी लुकाइ।
सौंह करै भौंहनु हँसे, देन कहैं नटि जाइ।। — बिहारी

यहाँ लाल (कृष्ण) विभाव (आलम्बन विभाव) है। मुरली छिपाना, सौंह करना भौंहों में हँसना, वापस देने के लिए कहना और फिर इन्कार कर देना — ये सभी अनुभाव हैं। चपलता, मद, मोह, औत्सुक्य, उग्रत आदि संचारी भाव यहाँ वर्णित नहीं हैं, वे यहाँ आक्षिप्त (स्वत: गृहीत) हैं। राधा या गोपिका (आश्रय) भी आक्षिप्त है।

(ग) केवल अनुभाव की विद्यमानता :

भौंहनु त्रासति मुँह नटति, आँखिन सौं लपटाति।
ऐंचि छुड़ावति करु, इंची, आगें आवति जाति।। -- बिहारी

इस पद्य में भौहों में त्रास दिखाना आदि केवल 'अनुभाव' वर्णित है। शेष दो (विभाव और अनुभाव) का बोध आक्षेप द्वारा होने पर ही रसाभिव्यक्ति सम्भव है।

निष्कर्ष यह कि लौकिक कारण, कार्य, और सहकारी कारण काव्य-नाटक में, व्यंजना वृत्ति के बल पर, क्रमशः विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भाव नामों से अभिहित होते हैं। ये विभावादि सहृदय के स्थायी भावों को जब भाव के भोग या चर्व्यमाण स्थिति तक पहुँचा देते हैं, तो इन्हें 'रस' नाम से पुकारा जाता है।[1]

काव्यशास्त्र में 'रस' शब्द से तात्पर्य है - काव्य-सौन्दर्य का आस्वादन। इस आस्वादन में बाधा डालने वाली स्थिति को 'रस विघ्न' नाम दिया गया है। रस विघ्न के आठ प्रकार हैं - रस-दोष, भाव-दोष, रसाभास, भावाभास, भावोदय, भावसन्धि, भावशबलता और भावशान्ति। भारतीय काव्यशास्त्र में रस-विघ्न के कारणों का विवेचन कवि और 'सहृदय' दोनों की दृष्टियों से किया गया है। 'रस' व्यवहार का अनौचित्य 'रस विघ्न' कहलाता है।

रस-दोष : 'रस' अथवा भाव का अपने वाचक शब्द द्वारा कथन रसास्वाद में बाधा उत्पन्न करता है। इसके पीछे तर्क यह है कि काव्य में रस अथवा भाव की व्यंजना होती है, कथन की नहीं। कथन तो दोष है। जैसे 'साकेत' में यह तथ्य कथन -

कौशल्या क्या करती थी,
चुप-चुप धीरज धरती थी

यहाँ धृति का कथन है अभिव्यक्ति नहीं। इसलिए रस-दोष है।

भाव-दोष : भाव का अपर्याप्त कथन भाव-दोष है। प्रायः इसमें विभाव की स्थिति गड़बड़ होती है। अनुचित आलंबन के प्रति झुकाव भाव-दोष है, जैसे पुरुष का बकरी के प्रति रतिपरक आकर्षण।

रसाभास और भावाभास : जहाँ रस अथवा भाव की व्यंजना में किसी कारणवश अनौचित्य झलकने लगे, वहाँ क्रमश: रसाभास अथवा भावाभास माना जाता है। उदाहरणार्थ -

1. नायिका का उपनायक-विषयक अथवा बहुपुरूष-विषयक प्रेम,
2. एक नर का, अथवा नरों का, एक समय पर अथवा अनेक समयों पर बहुत-सी नारियों से प्रेम,
3. उभयनिष्ठ रति न होना, अर्थात् नायक या नायिका में से केवल एक का दूसरे के प्रति प्रेम-वर्णन
4. श्रेष्ठ का नीच के प्रति अथवा नीच का श्रेष्ठ के प्रति प्रेम वर्णन
5. नायिका द्वारा मान करने के अनन्तर मानशन्ति न होना,
6. पशु-पक्षी विषयक प्रेम, आदि।

ज्ञातव्य है कि स्थायी भाव की अनौचित्यपूर्ण अभिव्यक्ति में रसाभास माना जाएगा और संचारी भाव की अनौचित्यपूण अभिव्यक्ति में भावाभास।

भावोदय, भावसंधि और भावशबलता : जहाँ एक भाव का उदय (वर्णन) हो वहाँ भावोदय माना जाता है, जहाँ दो भावो का वर्णन हो वहाँ भावसंधि और जहाँ दो से अधिक भावों का वर्णन हो वहाँ भावशबलता मानी जाती है।

भावशान्ति : जहाँ एक भाव उदित, होकर शान्त हो जाए।

5.3.4 रस-विषयक संक्षिप्त इतिवृत्त तथा रस का महत्व

संस्कृत-काव्यशास्त्र के इतिहास में रस, आदि से अन्त तक किसी न किसी रूप में, निरूपित होता रहा है। आद्याचार्य भरत ने रस-विषयक प्राय: सभी सामग्री साक्षात् रूप से अथवा प्रकारान्तर से प्रस्तुत की थी। उन्होंने अपने प्रख्यात ग्रन्थ 'नाटयशास्त्र' के छठे और सातवें अध्याय में रस, और भाव का विवेचन किया है।

---

[1] इस विषय के मूल ज्ञान के लिए संस्कृत के तीन स्थल द्रष्टव्य है - (क) 'नाट्यशास्त्र', छठा अध्याय 'कारिका' तथा 'वृत्ति' 33, 34 (ख) 'काव्यप्रकाश' (मम्मट) चौथा उल्लास, 'कारिका' 27,28 तथा 'वत्ति' (ग) 'साहित्यदर्पण' (विश्वनाथ) तीसरा परिच्छेद 'कारिका' तथा 'वत्ति'।

1. रस के सम्बन्ध में उनके प्रख्यात कथन सूत्र 'विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्ति' का आशय यह है कि सहृदय के हृदय में वासना-रूप से स्थित रति आदि स्थायी भावों का संयोग अब काव्य-नाटक में वर्णित विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भाव से हो जाता है तो स्थायी भाव रस-रूप में ऐसे निष्पन्न (अभिव्यक्त) हो जाता है जैसे दूध खट्टे पदार्थ के संयोग से दही, पनीर आदि के रूप में परिणत हो जाता है - रति नामक स्थायी भाव शृंगार रस के रूप में, शोक नामक स्थायी भाव करुण रस के रूप में निष्पन्न (अभिव्यक्त) हो जाता है। उल्लेख्य है कि उक्त कथन की व्याख्या परवर्ती अनेक आचार्यों ने की। इनमें से चार आचार्यों के नाम अति विख्यात हैं --भट्ट लोल्लट, शंकुक, भट्टनायक, और अभिनवगुप्त। (रस निष्पत्ति आदि के सम्बन्ध में आपको इकाई-7 के अन्तर्गत सामग्री भेजी जाएगी।)
2. भरत ने मूल रस चार माने हैं —शृंगार, रौद्र, वीर, और वीभत्स। फिर इनसे उन्होंने क्रमश: हास्य, करूण, अद्भुत और भयानक रसों की उत्पत्ति मानी है।
3. उन्होंने भावों की संख्या निम्नोक्त रूप में 49 बताया है --8 स्थायी भाव, 33 व्यभिचारी भाव, और 8 सात्त्विक भाव। 8 स्थायी भावों के अनुसार उन्होंने 8 रस माने हैं, किन्तु 'नाटयशास्त्र' के एक संस्करण में निर्वेद नामक नवाँ स्थायी भाव भी स्वीकार किया गया है तथा इसके भी अनुसार एक अन्य नवाँ रस शान्त रस भी माना गया है।
4. उन्होंने रस के विषय में यह प्रश्न भी उठाया है कि इसे 'आस्वाद' मानें अथवा 'आस्वाद्य'। पर वे रस को आस्वाद ही मानते हैं न कि आस्वाद्य। भोजन की सामग्री आस्वाद्य (आस्वादनीय, भोत्य) कहलाती है, और इसे खाने के आनन्द को आस्वाद कहते हैं। भरत की दृष्टि में रस की विभाव आदि सामग्री तो आस्वाद्य है, पर इसकी निष्पत्ति आस्वाद (काव्यानन्द) में होती है।
5. शृंगार रस के आलम्बन विभाव के प्रसंग के अन्तर्गत उन्होंने नायक-नायिका भेद का वर्णन किया है।
6. अलंकार, गुण, दोष, वर्णयोजना और छन्द के प्रसगों में उन्होंने निर्दिष्ट किया कि इनका प्रयोग रस को लक्ष्य में रखकर करना चाहिए।

भरत के पश्चात् भामह-पर्यन्त काव्यशास्त्र का लिखित इतिहास नहीं मिलता। भामह, दण्डी और उद्भट यद्यपि अलंकारवादी थे, फिर भी इन्होंने रस को समुचित स्थान देते हुए रसवत्, प्रेमस्वत् ऊर्जस्वि और समाहित अलंकार माने जो कि रस से सम्बन्धित हैं। भामह और दण्डी ने तथा आगे चलकर वामन ने रस को महाकाव्य के लिए एक आवश्यक तत्व के रूप में स्वीकृत किया। भामह का कथन है कि कटु ओषधि के समान शास्त्रचर्चा भी रस के संयोग से मधुवत् बन जाती है।[1]

वामन ने निर्दिष्ट किया कि वैदर्भी आदि वृत्तियों का प्रयोग रस के अनुकूल करना चाहिए। उन्होंने शृंगार रस का प्राधान्य स्वीकार किया और कवियों को रस के लिए प्रयत्नशील रहने का आदेश दिया। इनके अनन्तर आनन्दवर्धन ने रस के प्रति आदर प्रकट करते हुए अनेक कथन प्रस्तुत किये। केवल दो कथन लीजिए -

1. रस के सम्पर्क से प्रचलित-अर्थ उस प्रकार नूतन रूप में आभासित होने लगते हैं जिस प्रकार वसन्त के सम्पर्क से द्रुम।[2]
2. ध्वनि-तत्व के अनेक भेदों के होने पर भी कवि को केवल रसादिमय ध्वनि-काव्य में ही अवधानवान् रहना चाहिए। (ध्वन्यालोक 4.5)

इनके बाद कुन्तक ने रस को काव्य का अमृत एवं अंतश्चमत्कार का वितानक मानते हुए प्रकारान्तर से इसे सर्वप्रमुख काव्य-प्रयोजन के रूप में घोषित किया। उन्होंने रस को प्रबन्धवक्रता के लिए अनिवार्यतः स्वीकार किया।

अग्निपुराणकार के अनुसार काव्य में यद्यपि वाणी की विदग्धता की प्रधानता (अनिवार्यता) रहती है, तथापि उसका जीवित (आत्मा) तो रस ही है - वाग्वैदग्ध्यप्रधानेऽपि रस एवाऽत्र जीवितम्।

---

1 स्वादुकाव्यरसोन्मिश्रं शास्त्रमप्युपर्युजते।
प्रथमालीदमधव: विबन्ति कटु भेषजम्॥ का.अ.5.3

2 दृष्टपूर्वा अपि ह्यर्था: काव्ये रसपरिग्रहात्।
सर्वे नवा इवाभान्ति मधुमास इव द्रुमा: ॥ ध्वन्या 4.4

इसी बीच रस-विषयक अनेक समस्याएँ भी उत्पन्न हुई। यथा - रस का स्वरूप क्या है? करूण आदि रसों को सुखात्मक क्यों माना जाए? रौद्र और वीर रस में क्या अन्तर है? शृंगार के रसराजत्व की समस्या उत्पन्न हुई। शान्त रस की स्वीकृति तथा अस्वीकृति का प्रश्न उठा तथा भक्ति को रस मानें या भाव -- यह प्रश्न भी, और साथ ही रस-संख्या का प्रश्न भी, तथा यह भी कि कौन से रस परस्पर मित्र अथवा विरोधी हैं, आदि, आदि इस प्रकार मर्मज्ञ आचार्यों तथा टीकाकारों के गम्भीर विश्लेषण से रस-तत्व का शास्त्रीय विवेचन उत्तरोत्तर महनीय होता चला गया।

इसके अतिरिक्त दण्डी और विश्वनाथ के बीच काव्य-पुरूष-रूपक भी सुलझता और स्थिर होता चला गया, और काव्य के सभी प्रमुख तत्व -- अलंकार, गुण, रीति, दोष -- किसी न किसी रूप से रस से ही सम्बद्ध कर दिये गये, जैसे कि अलंकार और गुण को नित्य रूप से । इसी प्रकार रीति को भी रस की उपकर्त्री माना गया -- गुणों के अभिव्यंजक वर्णों के माध्यम से। इतना ही नहीं, दोष को तभी स्वीकार किया गया जब वह रस का अपकर्षक हो, अन्यथा नहीं। आगे चलकर विश्वनाथ ने तो रस को ही काव्य की आत्मा घोषित करते हुए काव्य लक्षण को रस पर आधारित कर दिया -'वाक्यं रसात्मकं काव्यम्'। इससे रस की महता और भी अधिक बढ़ गई।

हिन्दी में रस-विवेचन

इस प्रसंग के अन्तर्गत रीतिकाल और आधुनिक काल में प्रस्तुत रसविवेचन पर संक्षेप में प्रकाश डाला जाएगा। रीतिकाल के आचार्य कवि तो संस्कृत के आचार्यों के 'रस निरूपण' से सम्बन्धित विचारों का ही हिंदी अनुवाद करते रहे । किन्तु हिंदी के आधुनिककाल में रस और रस सिद्धान्त पर नवीन दृष्टियों से विचार किया गया है।

रीतिकाल

आप जानते हैं कि पंडितराज जगन्नाथ संस्कृत काव्यशास्त्र के अन्तिम आचार्य हैं। वे शाहजहाँ (शासनकाल 1837-1858 ई.) के सभा पंडित थे। रीतिकाल के आचार्य चिन्तामणि को शाहजहाँ द्वारा पुरस्कृत किया जाना इतिहास-प्रसिद्ध घटना है। इस प्रकार संस्कृत काव्यशास्त्रीय परम्परा के समाप्त होते ही रीतिकाल का प्रारम्भ हो जाता है। यद्यपि चिन्तामणि से पूर्व अलंकार नायक-नायिका-भेद, नख-शिख बारहमासा, षड्ऋतु वर्णन-विषयक अनेक ग्रन्थों की रचना के अतिरिक्त केशव जैसे आचार्य हो चुके थे।

रीतिकाल में चिन्तामणि, कुलपति, देव, भिखारीदास, श्रीपति, सोमनाथ, प्रतापसिंह आदि अनेक आचार्यों ने मम्मट-रचित 'काव्य प्रकाश' और विश्वनाथ-रचित 'साहित्यदर्पण' के आधार पर रसों के अंगों - स्थायी भाव तथा विभावादि - पर प्रकाश डालते हुए रस के स्वरूप को भी उजागर किया। इस प्रसंग में कुलपति का यह कथन देखिए जिसमें उन्होंने रस को अलौकिक, आनन्दस्वरूप तथा ब्रह्मास्वाद-सहोदर माना -

> नृत्य, कवित देखत, सुनत, भये आवरन भंग।
> आनन्द रूप प्रकाश है, चेतन ही रस अंग।।
> जैसो सुख है ब्रह्म को, मिले जगत सुधि जाति।
> सोई गति रस मैं मगन भये सुरस नौ भाँति।। -- रसरहस्य, 3.34-36

रीतिकालीन आचार्यों की एक अन्य उल्लेखनीय विशेषता है कि इनमें से अधिकांश ने शृंगार रस के आलम्बन-विभाव के अन्तर्गत नायक-नायिका-भेद का प्रतिपादन करते हुए इनके स्वरचित उदाहरण प्रस्तुत किये है। ये उदाहरण अति सरस तथा विपुल मात्रा में हैं, और इनमें से अधिकतर में जीवन के मार्मिक पक्षों का उद्घाटन है। इस प्रसंग में कुछ-एक आचार्यों ने (जैसे तोष, रसलीन, भिखारीदास आदि ने) उस युग के अनुकूल नायक एवं नायिका के कुछ नवीन भेद अवश्य जोड़े,, पर कुल मिलाकर इन आचार्यों का लक्षण-पक्ष शास्त्रीय दृष्टि से प्राय: शिथिल है। इसका कारण यह कि ये तथाकथित आचार्य मूलत: कवि थे और विभिन्न विषयों से सम्बन्धित पद्यों की रचना करने के उद्देश्य से इन्होंने काव्यशास्त्रीय अंगों का सहारा लिया। हाँ, सरस उदाहरणों की रचना के कारण इनका महत्व अद्यावधि अक्षुण्ण है। शृंगार रस से सम्बन्धित चिन्तामणि का यह पद्य लीजिए -

> अवलोकनि में पलकैं न लगें पलकौ अवलोकि बिना ललकै।
> पति के परिपूरन प्रेम पगी मन और सुभाव लगै न लकै।।
> तिय की बिहँसौंही विलोकनि में 'मनि' आनंद आँखिन यों झलकै।
> रसवंत कवित्तन कौ रसु ज्यों अखरान के ऊपर ह्वै छलकै।।

और अब एक पद्य मतिराम रचित लीजिए -

आयो विदेस से प्राण-पिया 'मतिराम' अनंद बड़ाई अलेखै।
लोगनि को मिलि आँगन बैठि घरी ही घरी सगरो घर पेखै।
भीतर भौन के द्वार खरी सुकुमार तिया तनुकम्प बिसेखै।
घूँघट मे पट-ओट किये पर-ओट किये पति को मुख देखै।

आधुनिक काल

इधर आधुनिक काल में आचार्य केशव प्रसाद मिश्र, डॉ. श्यामसुन्दरदास, अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध', बाबू गुलाबराय, जयशंकर प्रसाद, आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी और डॉ. नगेन्द्र ने रस का स्वरूप प्रतिपादित करते हुए रस को -- चाहे वह शृंगार, हास्य आदि रस हों अथवा करुण, बीभत्स आदि सब को -- आनन्दस्वरूप माना है। किन्तु आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने कविता क्या है नामक निबंध में करूण रस में आनंद-प्राप्ति को अस्वीकार करते हुए अपना यह प्रख्यात कथन प्रस्तुत किया है - 'जिस प्रकार आत्मा की मुक्तावस्था ज्ञानदशा कहलाती है, उसी प्रकार हृदय की मुक्तावस्था रसदशा कहलाती है।' (चिंतामणि, भाग-1, पृ.141 तथा 247) उन्हीं के शब्दों में उक्त कथन से उनका 'तात्पर्य यह है कि रस दशा में अपनी पृथक सत्ता की भावना का परिहार हो जाता है, अर्थात् काव्य में प्रस्तुत विषय को हम.....निर्विशेष, शुद्ध और मुक्त हृदय द्वारा ग्रहण करते है इसी को पाश्चात्य समीक्षा-पद्धति में अहं का विसर्जन और नि:संगता कहते हैं। इसी को चाहे रस का लोकोत्तर या ब्रह्मास्वादसहोदरत्व कहिये, चाहे विभावन-व्यापार का अलौकिकत्व।' (चिंतामणि, भाग-1, पृ.141 तथा 247)

उपर्युक्त दोनों कथनों से आचार्य शुक्ल का अभिप्राय यह है कि काव्य अथवा नाटकों में कालिदास आदि रचनाकारों द्वारा दुश्यन्त, शकुन्तला आदि पात्र अनुकार्य अर्थात् वास्तविक पात्र - अपने युग के पात्र - नहीं होते, वे अनुकार्य के आधार पर रचनाकारों द्वारा निर्मित किए गए होते हैं - मानो वे रचनाकारों के मानस पुत्र हों। जब हम इन कृतियों को पढ़ते हैं तो उस समय हम किसी विशेष भावना से - चाहे यह धार्मिक हो या राजनीतिक - संवलित नहीं होते। उस समय हमारा हृदय अपने पराए की भेद बुद्धि से मुक्ति या निर्विशेष होता है, शुद्ध और मुक्त होता है।

परिणामतः रचनाकार की युगीन मानसिकता के अनुरूप वाल्मीकि के राम हमारे लिए महान मानव होते हैं, तुलसी के राम भगवान और माइकेल मधुसूदन दत्त के राम अति सामान्य जन होते है।

इस प्रकार आचार्य शुक्ल शृंगार तथा करुण दोनों प्रसंगों में रस को लौकिक आनन्द नहीं कहते, न लोकोन्तर आनन्द कहते हैं। वे रस को ऐसा आस्वाद अनुभव या हृदय की मुक्तावस्था स्वीकार करते हैं जिसमें पाठक अथवा दर्शक का मन रजोगुण और तमोगुण से अस्पृष्ट होकर प्रायः सत्वगुण से युक्त हो जाता है - 'रजस्तमोभ्याम् अस्पृष्टं मन: सत्वमिहोच्यते,' और इसी अवस्था में वह सामान्य मानव न कहा जाकर 'सहृदय' कहलाता है और लोकोत्तर आनन्द को प्राप्त करता है।

इसी प्रसंग में डॉ. नगेन्द्र का प्रख्यात कथन है - 'काव्यानुभूति में एक ओर ऐन्द्रिय अनुभूति की स्थूलत एवं तीव्रता (ऐन्द्रियता एवं कटुता) नहीं होती और दूसरी ओर बौद्धिक अनुभूति की अरूपता नहीं होती, और इसलिए --वह (काव्यानुभूति) पहली से (ऐन्द्रिय अनुभूति से) अधिक शुद्ध परिष्कृत तथा दूसरी से (बौद्धिक अनुभूति से) अधिक सरस होती है।' (रस सिद्धांत, पृ.119) इस कथन से डॉ. नगेंद्र का अभिप्राय यह है कि -

- काव्य की अनुभूति एक ओर तो लौकिक अनुभूति से अर्थात् लौकिक प्रेमी एवं प्रेमिका की रति से जन्य अनुभूति से अथवा दो अभिन्न मित्रों के स्नेह से जन्य अनुभूति से अथवा पुत्र के प्रति वात्सल्य से जन्य अनुभूति से भिन्न होती है; और
- दूसरी ओर यह (काव्य अनुभूति) बौद्धिक अनुभूति से, अर्थात् विभिन्न शास्त्रों, विज्ञान के सिद्धान्तों, गणित के फ़ार्मूलों को रचने अथवा पढ़ने से प्राप्त अनुभूति से भी भिन्न होती है।

इस प्रकार काव्य की अनुभूति (क) लौकिक अनुभूति की अपेक्षा अधिक शुद्ध-परिष्कृत होती है, तथा (ख) बौद्धिक अनुभूति की अपेक्षा अधिक सरस।

निष्कर्ष-स्वरूप डॉ. नगेन्द्र काव्य द्वारा प्राप्त अनुभूति (आनन्द अथवा रस) को लौकिक और बौद्धिक अनुभूतियों (आनन्दों) से उत्कृष्ट मानते हैं। उधर भारतीय काव्यशास्त्र भी इसी कारण रस को 'लोकोत्तर कहते है। लोकोत्तर का अर्थ है लोक से ऊपर उठा हुआ - उदात्त अनुभव!

5.4 अलंकार-सिद्धांत (अलंकार संप्रदाय)

5.4.1 'अलंकार' शब्द का व्युत्पत्तिपरक अर्थ

'अलंकार' शब्द की व्युत्पत्ति प्रायः दो प्रकार से की जाती है--करणपरक और भावपरक।

1. **करणपरक** : करण अथवा उपकरण कहते हैं साधन (इन्स्ट्रूमेंट) को - जिसके द्वारा कोई कार्य किया जाता है। (क) 'अलंक्रियतेऽनेन इति अलंकार' : अर्थात् जिसके द्वारा अलंकृत किया जाता है, शोभा की जाती है; अथवा (ख) 'अलंकरोति इति अलंकारः' अर्थात् जो अलंकृत करता है, शोभित करता है। इस प्रकार की व्युत्पत्ति करणपरक मानी जाती है।

2. **भावपरक** : यहाँ 'भाव' शब्द से तात्पर्य है - सिद्धि। 'अलंकृतिः अंलकारः' अर्थात् अलंकरण (शोभा, सौन्दर्य, सजावट) को अलंकार कहते हैं। इस प्रकार की व्युत्पत्ति को भावपरक माना जाता है।

5.4 2 अलंकारवादी आचार्य और इनका अलंकार-सिद्धान्त

भरत के 'नाट्यशास्त्र' में हमें केवल चार अलंकारों के नाम मिलते हैं-- उपमा, रूपक, दीपक और यमक। भरत के बाद इस दृष्टि से **भामह** (छठी शती) का नाम उल्लेखनीय है। इन्हें (अलंकार - सिद्धान्त) का प्रवर्तक माना जाता है। इनके प्रसिद्ध ग्रन्थ का नाम है - 'काव्यालंकार'। भामह ने 37 अलंकारों का निरूपण किया तथा अलंकार को काव्य का अनिवार्य तत्व घोषित किया। भामह का अनुकरण **दण्डी** ने किया और भामह और दण्डी का **उद्भट** ने इन तीनों अलंकारवादी अचार्यों की मान्यताओं से स्पष्ट है कि वे अलंकार को काव्य का सर्वस्व एवं अनिवार्य तत्व स्वीकार करते थे --

1. भामह ने अलंकार को काव्य का एक आवश्यक सौन्दर्य-विधायक या आभूषक तत्व मानते हुए कहा कि -

   क) अनेक आचार्यों द्वारा प्रस्तुत रूपक आदि अलंकार काव्य में आवश्यक हैं। जिस प्रकार किसी नारी का सुन्दर मुख भी आभूषणों के बिना शोभित नहीं होता उसी प्रकार अलंकार के बिना कविता सुशोभित नहीं होती -

   रूपकादिरलंकारस्तथान्यैर्बहुधोदितः।
   न कान्तमपि निर्भूषं विभाति वनितामुखम्।। ('काव्यालंकार' भामह, 1.13)

   ख) अर्थ-मर्मज्ञों की वाणी अलंकारों के द्वारा उस प्रकार शोभित होती है, जिस प्रकार नारी आभूषणों से शोभित होती है।

   अनेन वागर्थविदामलंकृता,
   विभाति नारीव विदग्धमण्डना । ('काव्यालंकार,', भामह, 3.58)

2. ये आचार्य काव्य के सभी शोभाकर धर्मों को 'अलंकार' नाम से अभिहित करने के पक्ष में हैं। दण्डी के शब्दों में -'काव्यशोभाकरान् धर्मान् अलंकारन् प्रचक्षते।' (काव्यादर्श 2.।) इसका तात्पर्य यह है कि अनुप्रास, उपमा आदि तो अलंकार हैं ही गुण, रस, ध्वनि आदि अनेक काव्य-तत्व भी इसी नाम से अभिहित होते हैं। ये आचार्य रस को रसवद् अलंकार कहते हैं, भाव को प्रेयस्वद् अलंकार, रसाभास तथा भावाभास को ऊर्जस्वि अलंकार तथा भावशान्ति को समाहित अलंकार। इसी प्रकार इन तीनों आचार्यों के अनुसार गुण, ध्वनि, प्रबन्धकाव्यत्व, नाट्यसन्धि आदि भी 'अलंकार' नाम से अभिहित होते हैं।

निष्कर्षत : अलंकारवादियों के मत में --

- 'अलंकार' व्यापक अर्थ का द्योतक है, संकुचित अर्थ का नहीं। अर्थात् 'अलंकार' काव्य-सौन्दर्य या काव्य-चमत्कार के उत्पादक सभी प्रकार के साधनों का वाचक है, केवल अनुप्रास, उपमा आदि का नहीं।
- और इसी कारण, 'अलंकार' काव्य का अनिवार्य साधन है--चाहें तो परवर्ती शब्दावली में कह सकते है कि अलंकारवादी आचार्यों को यह स्वीकृत था कि 'अलंकार काव्य की आत्मा है', यद्यपि उन्होंने 'आत्मा' शब्द का कहीं इस अर्थ में प्रयोग नहीं किया। पर वे 'अलंकार' को ही काव्य का प्राण-तत्व मानते थे।

5.4.3 अलंकार-सिद्धान्त की स्वीकृति तथा अलंकार का मान्य स्वरूप

भामह आदि द्वारा प्रस्तुत अलंकार-सिद्धान्त का खण्डन किया गया। दण्डी द्वारा प्रस्तुत अलंकार के उक्त लक्षण को ही अस्वीकृत करके मानो अलंकार-सिद्धान्त को जड़ से उन्मूलित कर दिया गया - दण्डी ने अलंकार का जो लक्षण किया था, वामन ने वही लक्षण गुण का प्रस्तुत कर दिया। तुलनार्थ-

दण्डी : काव्यशोभाकरान् धर्मान् अलंकारान् प्रचक्षते। (काव्यादर्श 2.1)
वामन : काव्यशोभायाः कर्तारो धर्मा गुणाः। (काव्यालंकारसूत्रवृति 3.99.2)

इतना ही नहीं, वामन ने गुण को काव्य में नित्य स्थान दिया और अलंकार को अनित्य - 'पूर्वे नित्याः'। उनके कथनानुसार गुण यदि काव्य के शोभावर्धक धर्म हैं तो अलंकार उस शोभा के वर्धक हैं - तदतिशयहेतवस्त्वलंकाराः। इस प्रकार वामन की दृष्टि में अलंकार का महत्व गुणों की अपेक्षा कम हो गया।

इसके पश्चात् आनन्दवर्धन ने अलंकार का नूतन लक्षण प्रस्तुत करते हुए इसका महत्व और भी कम कर दिया, और इनकी स्थिति इस रूप में स्वीकृत की, जैसी कि शरीर के कटक, कुण्डल आदि शोभाकारक आभूषणों की होती है -

अंगाश्रितास्त्वलंकारा: मन्तव्या: कटकादिवत्। (ध्वन्यालोक 2.6)

यहाँ 'अंग' से तात्पर्य है शब्दार्थ-रूप काव्य-शरीर के अस्थिर धर्म के रूप में उसकी अतिशय शोभा बढ़ाते हुए रसादि का कभी उपकार करते हैं।[1] इनके बाद पण्डिताराज जगन्नाथ के अनुसार 'अलंकार' उन्हें कहते हैं जो काव्य की आत्मा 'व्यंग्य' की रमणीयता के प्रयोजक हैं।[2]

निष्कर्षतः आनन्दवर्धन, मम्मट, विश्वनाथ और जगन्नाथ इन चारों आचार्यों द्वारा प्रस्तुत अलंकार-लक्षण का संक्षिप्त विश्लेषण इस प्रकार है :

- जिस प्रकार कटक-कुण्डल आदि आभूषण शरीर की प्राय: शोभा करते हैं, और कभी नहीं भी करते, उसी प्रकार अनुप्रास, उपमा आदि अलंकार शब्दार्थ-रूप काव्य-शरीर की प्रायः शोभा वृद्धि करते हैं, और कभी नहीं भी करते। मूल बात यह कि अलंकार 'शब्दार्थ' के अस्थिर धर्म हैं।
- अलंकार शब्दार्थ की शोभा द्वारा परम्परा-सम्बन्ध से रस का उपकार ठीक उसी प्रकार करते हैं, जिस प्रकार, शरीर पर धारण किये गए आभूषणों द्वारा प्रकारान्तर से आत्मा का उत्कर्ष होता है।
- अलंकार किन्हीं स्थितियों में रस का उपकार नहीं करते और, कभी कभार रस का अपकार भी कर देते हैं।

इस प्रकार हमने देखा कि अलंकारवादियों का 'अलंकार' अब काव्य का अनिवार्य तत्व न रह कर शब्दार्थ की शोभा के माध्यम से रस का उपकारक बन गया और वह भी नित्य रूप से नहीं। मम्मट द्वारा प्रस्तुत काव्यलक्षण में प्रयुक्त 'अनलंकृती पुन: क्वापि' कथन इसी अवहेलना का द्योतक है। इस प्रकार अलंकार को 'काव्य की आत्मा' मानने का प्रश्न आनन्दवर्धन, मम्मट आदि आचार्यों के मत में तो उत्पन्न ही नहीं होता। भामह, दण्डी और उद्भट के मत में भी अलंकार को काव्य की आत्मा नहीं मान सकते, क्योंकि उनके मत में भी अलंकार काव्य का अनिवार्य माध्यम (साधन) होते हुए भी अधिकांशतः एक बाह्यपरक तत्व है। किन्तु आत्मा कहलाने योग्य काव्य-तत्व वह होता है जो कि काव्य का एक अनिवार्य एवं आन्तरिक साधन या प्राण-तत्व होता हो।

5.4.4 काव्य में अलंकार के प्रयोग का औचित्य एवं मूल्यांकन

अंततः विचारणीय प्रश्न यह है कि काव्य में अलंकार का प्रयोग कब एवं कैसा होना चाहिए? इस संबंध में एक शब्द में उत्तर है कि 'औचित्यपूर्ण'। इस सम्बन्ध में उल्लेख्य है कि शब्दालंकार अथवा अर्थालंकार - (1) कभी स्फुट रूप में विद्यामान रहकर काव्य-चमत्कार में वृद्धि करता है, और (2) कभी अस्फुट रूप में विद्यमान रहकर काव्य-चमत्कार में वृद्धि करता है, (3) किन्तु, कभी प्रमुखत: अलंकार ही काव्य-चमत्कार का कारण बनता है। अब इन तीनों स्थितियों के उदाहरण लीजिए :

1. सखी बोली - ये तुमने अपने नेत्र कैसे लड़ाके बना लिये है कि उधर बेचारे कृष्ण बेहाल पड़े है - कहीं मुरली पड़ी है, कहीं पीत पट पड़े है तो कहीं मुकुट और कहीं बनमाला पड़ी है -

कहा लड़ैते दृग करे परे लाल बेहाल।
कहुँ मुरली कहुँ पीत पट, कहुँ मुकुट बनमाल।। -- बिहारी

---

[1] (क) उपकुर्वन्ति तं सन्तं येऽङ्गद्वारेण जातुचित्।
हारादिवदलंकारास्तेऽनुप्रासोपमादयः। (काव्यप्रकाश 8.67)
(ख) शब्दार्थयोरस्थिराः ये धर्माः शोभातिशायनः।
रसादीनुपकुर्वन्तोऽलंकारास्तेऽङ्गदादिवत्।। (साहित्यदर्पण 10.1)

[2] काव्यात्मनो व्यंग्यस्य रमणीयताप्रयोजका अलंकाराः। (रसगंगाधर)

कृष्ण गोपिका के नेत्रों से आहत विरही के रूप में छटपटा रहे हैं - यह व्यंग्यार्थ (व्याजनिन्दा) अलंकार के माध्यम से और भी अधिक चमत्कृत हो उठा है। नेत्रों को लड़ाके कहना निन्दा है, पर बिहारी को वस्तुत: उनकी स्तुति करना अभीष्ट है कि ये अति सुन्दर हैं। यहाँ व्याजनिन्दा अलंकार स्फुट रूप में है। इसी प्रकार

अमी हलाहल मदभरे स्वेत स्याम रतनार।
जियत मरत झुकि-झुकि परत जेहि चितवत इक बार।।

(नायिका के नेत्र अमृत, विष और मदिरा से भरे हैं, तभी तो ये श्वेत, श्याम और रक्ताभ हैं, और तभी इन्हें एक बार देखने वाले जीते, मरते और गिरते-पड़ते से हैं।) यहाँ नेत्रों का अद्‌भुत सौन्दर्य-वर्णन कवि को यहाँ अभीष्ट है, और यथासंख्य अलंकार का चमत्कार उसमें किंचित् और वृद्धि कर रहा है। यहाँ भी यह अलंकार स्फुट रूप में है।

2. अब दूसरे प्रकार के उदाहरण लीजिए। कवि प्रसाद के निम्नोक्त पद्य -

औरों के प्रति प्रेम तुम्हारा इसका मुझको दुख नहीं ।
जिसके तुम हो एक सहारा, वही न भूला जाए कहीं।।

में किसी अलंकार के स्फुट रूप में विद्यमान न होने पर भी 'प्रेम की उत्कटता' रूप व्यंग्य काव्य-चमत्कार का द्योतक है। यों, इस पद्य में 'तुम्हारा' और 'सहारा' तथा 'नहीं' और 'कहीं' तुकों के बल पर अनुप्रास अलंकार भी ढूँढा जा सकता है, पर यह उक्त व्यंग्य में सहायक नहीं है। इसके अतिरिक्त इस पद्य में विभावना, विशेषोक्ति, विषम और विरोध जैसे अलंकारों की कल्पना भी की जा सकती है, जो कि यहाँ स्फुट रूप से विद्यमान नहीं है।

3. अब तीसरे प्रकार के उदाहरण लीजिए जिनमें अलंकार के चमत्कार के कारण व्यंग्यार्थ अस्फुट रूप से प्रतीत होता है निम्नोक्त पद्य में केवल भ्रान्तिमान् (भ्रम) अर्थालंकार के कारण ही काव्यत्व की स्वीकृति की जा सकती है। यहाँ कवि को नायिका का आभूषण-सौंदर्य व्यंजित करना अभीष्ट है, पर यह व्यंग्यार्थ भ्रान्तिमान अलंकार के चमत्कार के कारण अस्फुट बनकर रह गया है। ध्वनि-सिद्धान के अन्तर्गत आप जानेंगे कि ऐसे स्थलों को चित्रकाव्य कहा गया है।

नाक का मोती अधर की कान्ति से,
बीज दाड़िम का समझ कर भ्रांति से।
देख उसको ही हुआ शुक मौन है,
सोचता है अन्य शुक यह कौन है।

अब ऐसा उदाहरण शब्दालंकार (अनुप्रास) का लीजिए -

मुकुट शुभ हिम तुषार,
प्राण प्रणव ओंकार,
ध्वनित दिशाएँ उदार,
शतमुख-शतरव-मुखरे! (निराला : भारती वन्दना)

यहाँ कवि को यह व्यंग्यार्थ अभीष्ट है कि 'माँ भारती' (भाषा) गौरव-शालिनी है, पर पाठक इस व्यंग्यार्थ से इतना चमत्कृत नहीं होता जितना कि अनुप्रास अलंकार से होता है। अत: यहां व्यंग्यार्थ अस्फुट माना जाता है।

5.4.5 काव्य में अलंकार का औचित्यपूर्ण निर्वहण

काव्य में अलंकार के औचित्यपूर्ण निर्वहण के लिए आनन्दवर्धन ने निम्नोक्त नियमों का निर्देश किया है:

1. क) काव्य में रस ही अंगी होता है, अतः रूपक आदि अलंकारों को उसके अंग रूप में ही प्रयुक्त करना चाहिए।
   ख) अलंकार की अंगीरूप में विवक्षा कभी नहीं करनी चाहिए।
2. क) अलंकारों को अवसर पर ग्रहण करना, और
   ख) अवसर पर ही इनका त्याग कर देना चाहिए।
3. क) अलंकार-प्रयोग का आरम्भ करके उसे अंत तक निभाने का प्रयत्न नहीं करना चाहिए।
   ख) यदि अनायास आद्यन्त निर्वाह हो भी जाए तो उसे अंग-रूप में रस का पोषक बनाने का यत्न करना चाहिए।

निष्कर्ष यह कि अलंकारों की सार्थकता इसी में है कि वह एक अनायास साधन के रूप में रस (काव्यानन्द) का उत्कर्ष करे, न कि स्वयं रस को आच्छादित करके कवि की चमत्कारप्रियता का परिचय देने लगे।[1]

5.4.6 अलंकारों की संख्या और प्रकार

वाक-तत्व में निहित, वाणी-विलास की ज्यों-ज्यों सूक्ष्म विवेचना होती गयी काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों में अलंकारों की संख्या भी त्यों-त्यों प्राय: बढ़ती चली गयी। इसी बीच पिछले आचार्यों द्वारा स्वीकृत अलंकारों को अमान्य भी ठहराया जाता रहा, फिर भी, नये अलंकारों के समावेश से संख्या में वृद्धि होती रही। भरत मुनि ने केवल 4 अलंकार माने थे और यह संख्या अप्पय्यदीक्षित के समय (16वीं - 17वीं शती में) 124 अलंकारों के तक जा पहुँची।

अलंकारों की संख्या को उत्तरोत्तर बढ़ाने के मोह का परिणाम यह हुआ कि वे वस्तुगत-वर्णन भी 'अलंकार' नाम से पुकारे जाने लगे, जिनका सम्बन्ध अलंकार्य, अर्थात् रस, को किसी भी रूप में अलंकृत करने के साथ् नहीं है, जैसे जयदेव ने प्रत्यक्ष, अनुमान, शब्द, उपमान, अर्थापत्ति, अनुपलब्धि, सम्भव और ऐतिह्य - इन आठ प्रमाणों की प्रमाणालंकार नाम दे दिया। इसी प्रकार स्मरण, भ्रम, सन्देह, प्रहर्षण, वीप्सा आदि को भी अलंकार मान लिया गया जो कि मूलत: हृदय की वृत्तियाँ मात्र हैं।

पर साथ ही अलंकारों की संख्या को न्यून करने के प्रयास भी समय-समय पर होते रहे। इस दिशा में कुन्तक का प्रयास विशेषतः उल्लेखनीय है। इन्होंने के 20 अलंकारों का निरूपण किया, और इनमें से भी प्रतिवस्तूपमा, उपमेयोपमा, तुल्ययोगिता अनन्वय, निदर्शना और परिवृत्ति -- इन छह सादृश्यमूलक अलंकारों का उपमा में, समासोक्ति का श्लेष में, तथा सहोक्ति का उपमा में अन्तर्भाव करके शेष 13 अलंकार ही मान्य ठहराये। अन्य आचार्यों द्वारा सम्मत अलंकारों में उनका अन्तर्भाव हो सकता है। अत: वे मान्य नहीं है।[2]

कुन्तक के बाद इस दिशा में जयदेव का नाम उल्लेख्य है। उन्होंने शुद्धि, संसृष्टि, संकर, मालोपमा और रशनोपमा अलंकारों की अस्वीकृति की है। इधर, यही प्रयास टीकाकारों ने भी किया है। काव्यप्रकाश के टीकाकार भट्ट वामन झलकीकर ने कुल मिलाकर 54 अलंकारों में से कुछ का खण्डन किया है और कुछ को मम्मट-सम्मत अलंकारों में अन्तर्भूत करने का निर्देश किया है।

किन्तु इतना सब कुछ होते हुए भी वाणी-विलास के भेदोपभेदों का नामकरण होता चला गया और अप्पय्यदीक्षित तक अलंकारों की संख्या 121 और उनके भदोपभेदों की संख्या लगभग 300 तक पहुँच गयी।[3]

अलंकार-प्रकार

अलंकारों को तीन प्रकारों में विभक्त किया गया है - शब्दगत, अर्थगत और शब्दार्थगत। मम्मट के अनुसार इस विभाजन का आधार है - 'अन्वय-व्यतिरेक-संबंध'। जिसके रहने पर जो रहे वह 'अन्वय' कहाता है, और जिसके न रहने पर जो न रहे वह 'व्यतिरेक'। इसका तात्पर्य यह है कि जिस शब्द के कारण चमत्कार हो, उसके स्थान पर उसका पर्यायवाची शब्द रखने पर यदि चमत्कार नष्ट हो जाए तो शब्दालंकार, चमत्कार नष्ट न हो तो अर्थालंकार माना जाता है, और जहाँ दोनों स्थितियाँ बनी रहें वहाँ शब्दार्थालंकार (उभयालंकार) माना जाता है । इसी आधार पर अनुप्रास यमक आदि शब्दालंकार है, उपमा रूपक आदि अर्थालंकार हैं और पुनरूक्तवदाभास उभयालंकार है। यह ज्ञातव्य है कि शब्दालंकारों में अर्थ की और अर्थालंकारों में शब्द की सत्ता तो रहती है, और कभी-कभी क्रमश : इनका चमत्कार भी रहता है, किन्तु नामकरण प्रधानता के ही आधार पर किया जाता है - (1) जहाँ शब्द का चमत्कार

---

1 ध्वन्यात्मभूतश्रंगारे समीक्ष्य विनिवेशत:।
रूपकादिरलंकारवर्ग एति यथार्थताम्।। -- ध्वन्या. 2.17

2 भूषणान्तरभावेन शोभाशून्यतया तथा।
अलंकारास्तु ये कैचन्नालंकारतया मनाक्।। -- व.जी. 3 x 44

3 अलंकारों की संख्या इस प्रकार है : भरत - 4, भामह - 39, दण्डी - 35, उदभट - 40, वामन - 33, रुद्रट - 52, भोजराज - 72, मम्मट - 67, रुय्यक - 81, जयदेव - 100, विश्वनाथ - 88 अप्पय्य दीक्षित - 124 जगन्नाथ

अपेक्षाकृत अधिक होगा वहाँ शब्दालंकार माना जाएगा, जैसे अनुप्रास आदि, (2) जहाँ अर्थ का चमत्कार समान-रूप से होगा वहाँ अर्थालंकार, जैसे उपमा आदि, और (3) जहाँ शब्द और अर्थ का चमत्कार समान-रूप से हो वहाँ उभयालंकार, जैसे पुनरुक्तवदाभास।

अर्थालंकारों का वर्गीकरण

अर्थालंकारों का वर्गीकरण संस्कृत-आचार्यों में एक विवाद का विषय रहा है। रुद्रट ने सर्वप्रथम अर्थालंकारों को वर्गीकृत करने का प्रयास किया यद्यपि उनसे पहले उद्भट ने भी यह प्रयास अवश्य किया था, पर वे इसमें सफल नहीं हुए थे। रुद्रट ने अर्थालंकारों को -- वास्तव, औपम्य अतिशय और श्लेष - इन चार श्रेणियों में विभक्त किया। रुद्रट के बाद रुय्यक ने इनका वर्गीकरण किया, और एकावली के कर्ता विद्याधर ने इस दिशा में प्रायः रुय्यक का ही अनुकरण किया। एकावली के टीकाकार मल्लिमाथ ने रुय्यक और विद्याधर के वर्गीकरण का विशेष रूप से स्पष्टीकरण करते हुए पाठकों के लिए उसे सुबोध रूप दे दिया, जिसका संक्षिप्त विवरण, इस प्रकार है -

1. सादृश्यमूल के अलंकार वर्ग : उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा आदि।
2. औपम्यगर्भ अलंकार वर्ग : दीपक, दृष्टान्त, व्यतिरेक, परिकर, श्लेष, आदि।
3. विरोधगर्भ अलंकार वर्ग : विरोध, विभावना, विशेषोक्ति आदि।
4. श्रृंखलाकार अलंकार वर्ग : कारकमाला, एकावली, मालादीपक, आदि।
5. न्यायमूलक अलंकार वर्ग : काव्यलिंग, यथासंख्या, परिसंख्या आदि।
6. गूढ़ार्थप्रतीतिमूलक अलंकार वर्ग : सूक्ष्म, व्यजोक्ति और वक्रोक्ति।

इस वर्गीकरण को समझने के लिए कुछ उदाहरण लीजिए -

1. सादृश्यमूलक अलंकार -

उदाहरण : 'बिखरी अलकें ज्यों तर्कजाल'

यहाँ अलकों को तर्क-जाल के सदृश बिखरी (उलझी) बताया गया है। अत : यहाँ उपमा अलंकार है। इस कथन में अलकें उपमेय है, तर्क जाल उपमान है, 'ज्यों' वाचक शब्द है, बिखरना सादृश्य है।

2. औपम्यगर्भमूलक अलंकार -

उदाहरण : रहिमन अँसुआ नयन ढरि, जिय-दुख प्रकट करेइ।
जाहि निकारों गेह तें, कस न भेद कहि देह।।

'आँसू आँखों से ढरक कर जी को दुःख देते है'। यहाँ यह उपमेय-वाक्य है। इसी के दृष्टान्त-स्वरूप दूसरा वाक्य उपमान-वाक्य है - 'जिसे घर से निकाल दोगे तो वह घर का भेद भला किस को नहीं बता देगा?' इन दोनों वाक्यों बिम्ब-प्रतिबिम्ब भाव (भाव-साम्य) है। अत: यहाँ दृष्टान्त अलंकार है। स्पष्ट है कि भाव-साम्य का आधार औपम्य अर्थात् सादृश्य होता है।

3. विरोधगर्भमूलक अलंकार -

उदाहरण : बिनुपद चलै, सुनै बिनु काना, कर बिनु करै करम बिधि नाना।
आनन रहित सकल रस भोगी, बिन बादी बकता बड़ जोगी।।

जहाँ कारण न हो, पर कार्य हो, वंहाँ विभावना अलंकार होता है। भगवान् के पाँव नहीं होते, पर वे चलते हैं, कान नहीं होते, पर सुनते हैं, आदि। कारण न होते हुए भी कार्य हो रहे हैं। अत: यहां विभावना अलंकार है। स्पष्ट है कि ऐसे कथनों के मूल में विरोध होता है, क्योंकि कारण न होने पर कार्य भी नहीं होना चाहिए, पर यहाँ हो रहा है।

4. श्रृंखलाकार अलंकार वर्ग -

उदाहरण : नहिं सर जहँ सरसिज नहीं, जलज न जहँ नहिं भौंर।
भ्रमर न जो गुंजत नहीं, गुंजन न मनहर जोन।।

वह तालाब (किसी काम का) नहीं जिसमें कमल न हों, वह कमल (किसी काम का) नहीं जिस पर भौंरे न मंडराते हों —। यहाँ एकावली अलंकार है जहाँ पदों के ग्रहण (स्थापन) और त्याग (निषेध), भ्रमर और गुंजन पदों में श्रृंखला रखी गयी है।

5. न्यायमूलक अलंकार वर्ग -

उदाहरण : पावस में धनुष अब, सरित्-तीर ही तीर।
रोदन ही में लाल दृग, नौ रस ही में बीर।। (वियोगी हरि)

अब इस युग में वीरता का अभाव हो गया है - धनुष तो अब वर्षा ऋतु में होते हैं (धनुष = इन्द्रधनुष)। तीर तो अब नदी के तीर (तट) ही होते हैं। अब लाल आँखें रोने पर ही होती हैं, शत्रु पर क्रोध के कारण लाल नहीं होती। वीर (रस) तो नौ रसों में होता है, अब वे शूरवीर कहाँ? यहाँ परिसंख्या-अलंकार है। यह अलंकार वहाँ होता है जहाँ किसी वस्तु को अन्य स्थलों से हटा कर किसी एक ही स्थान पर स्थापित किया जाए। उक्त पद्य में भी यही स्थिति है। न्यायमूलक अलंकारों में अभीष्ट बात कहने में कोई न्याय (तर्क) निहित होता है। जैसे इस पद्य में तर्क यह कि अब वह शूरवीरता का युग नहीं रहा।

6. गूढ़ार्थ प्रतीतिमूलक अलंकार -

उदाहरण : ललन-चलन सुनि पलन में अँसुआ झलके आइ।
भई लखानन सखिन हूँ झूठें ही जमुहाइ॥ (बिहारी)

नायक के जाने की (नगर से बाहर चले जाने की) सूचना से नायिका की नेत्रों में अश्रु आ गये। पर उसने तुरन्त जमुहाई ले ली कि सखिया समझें कि अश्रु जमुहाई के कारण आये हैं न कि भावी विरह के कारण। यहाँ व्याजोक्ति अलंकार है। जहाँ कोई भेद किसी बहाने से छिपाए जाए ऐसे अलंकार किसी गुढार्थ की प्रतीति कराते हैं।

5.4.7 अलंकार और अलंकार्य

अंततः विचारणीय है कि अलंकार और अलंकार्य में क्या अन्तर है?

- अलंकार काव्य के शब्दार्थ-रूप काव्य-शरीर को शोभा प्रदान करने वाले काव्यतत्व हैं, जैसे - अनुप्रास, यमक आदि शब्दालंकार तथा उपमा, रूपक आदि अर्थालंकार।
- इन अलंकारों से जो अलंकृत होता उसे 'अलंकार्य' (अलंकरणीय, अलंकृत करने योग्य) कहते हैं। यों तो अलंकार शब्दार्थ-रूप काव्यशरीर की शोभा बढ़ाते हैं, अत: शब्दार्थ को अलंकार्य मानना चाहिए, परंतु चूँकि अलंकार शब्दार्थ-रूप काव्य-शरीर की शोभा के माध्यम से अन्ततः रस का उपकार (उत्कर्ष) करते हैं, अतः आनन्दवर्धन एवं इनके अनुकरण में मम्मट ने रस को 'अलंकार्य' माना न कि शब्दार्थ को।

निष्कर्षतः अलंकार रस का उपकार करते हैं अत: अनुप्रास, उममा आदि अलंकार कहलाते हैं और रस अलंकार्य कहलाता है जैसे उपर्युक्त पद्य 'ललन चलन सुनि.....' पद्य में शृंगार रस 'अलंकार्य' है और व्याजोक्ति 'अलंकार' है, क्योंकि यह शृंगार रस का उपकार कर रहा है। इसी प्रसंग में एक स्थिति और है

क) कभी-कभार शृंगार आदि रसों में से कोई एक रस किसी अन्य का उपकार कर रहा होता है तो उस उपकारक रस को रसवद् अलंकार कहते हैं और उपकार्य रस को अलंकार्य। एक उदाहरण लीजिए

सपनो है संसार यह रहस न जाने कोय।
मिलि पिय मनमानी करौ, काल कहाँ धौं होय॥

यहाँ शृंगार रस 'अलंकार्य' है और इसका उपकारक शान्त रस 'अलंकार' है। इस स्थिति में अलंकार्य को अंगी कहते हैं, और अलंकार को अंग।

ख) इसी प्रकार यदि स्थायी भाव, संचारी भाव और सात्विक भावों के भेदों में से कोई एक भेद किसी अन्य भेद का उपकार कर रहा होता है, अथवा किसी रस का उपकार कर रहा होता है तो यह उपकारक काव्यतत्व 'अलंकार' कहलाता है और जिसका उपकार होता है वह 'अलंकार्य' कहलाता है।

शब्दालंकार अथवा अर्थालंकार 'अलंकार्य' का, अर्थात् रस का, कैसे उपकार करते हैं, इस सम्बन्ध में निम्नोक्त दो उदाहरण लीजिए—

ऊँचे घोर मंदर के अंदन रहन वारी,
ऊँचे घोर मंदर के अंदर रहाती हैं।
कंदमूल भोग करैं, कंद मूल भोग करैं,
तीन बेर खाती ते, वै तीनि बेर खाती हैं॥ (शिवा बावनी, 8)

भूषण कवि ने उक्त पद्य में कहा है कि शिवाजी के शौर्य के कारण पराजित शत्रुओं की नारियों की यह दुर्दशा हो गयी है। इस पद्य में यमक नामक शब्दालंकार है, और यह अलंकार, यों तो, शब्दार्थ-रूप

काव्यशरीर की शोभा कर रहा है, पर इस शोभा के माध्यम से यह अलंकार वीर रस का उपकार कर रहा है। यहाँ वीर रस को 'अलंकार्य' कहा जाएगा, क्योंकि यमक अलंकार अन्ततः इसी का उपकार कर रहा है।

अब अर्थालंकार का उपर्युक्त उदाहरण 'अमी हलाहल मद भरे ....' एक बार फिर लीजिए। इससे विषय को समझने में सहयता मिलेगी -

अमी हलाहल मदभरे स्वेत स्याम रतनार।
जियत मरत झुकि झुकि परत, जेहि चितवत इक बार॥

इसका अर्थ है कि सुन्दरी के नेत्र अमृत, विष और मदिरा से भरे हुए हैं, तभी तो ये क्रमशः श्वेत, श्याम और लाल रंग के हैं। जो इन्हें एक बार देख लेता है वह जीता है, मरता है और गिरता-पड़ता है।

इस पद्य में यथासंख्य अलंकार है। पर कवि को इस पद्य के द्वारा मूलतः नेत्रों का अद्भुत सौन्दर्य-वर्णन करना अभीष्ट है, और यथासंख्य अलंकार शृंगार रस का उपकार कर रहा है। इस प्रकार यहाँ शृंगार रस 'अलंकार्य' है और यथासंख्य 'अलंकार' है।

इस प्रसंग के अंतर्गत उपर्युक्त 'रसवद्' अलंकार की चर्चा एक बार करें। काव्य में रस दो रूपों में वर्णित होता है - अंगी रूप में एवं अंग रूप में। उदाहरण के लिए, कालिदास के 'अभिज्ञानशाकुन्तलम्' नाटक में अंगी रस अर्थात् प्रधान अथवा मुख्य रस 'शृंगार' है, और शृंगार रस के सहायक रस - वात्सल्य, अद्भुत, हास्य, शान्त आदि अन्य रस - भी नाटक में मौजूद हैं। इन्हें यहाँ अंग रस अर्थात् गौण रस माना जाता है। आनन्दवर्धन के अनुसार इस नाटक में शृंगार रस (अंगी रस) को अलंकार्य माना जाता है और वात्सल्य आदि रसों को 'रसवद् अलंकार'। इतना ही नहीं, एक पद्य में भी यह स्थिति हो सकती है कि एक रस दूसरे रस का उपकारक हो। निम्नोक्त पद्य फिर लीजिए -

सपनो है संसार यह रहस न जाने कोय
मिलि पिय मनमानी करौ, काल कहाँ धौं होय॥ (अज्ञात)

(नायक का नायिका के प्रति यह कथन कि संसार स्वप्न है। इस रहस्य को कोई नहीं जानता। न जाने कब मृत्यु हो जाए, अतः आओ परस्पर मनोरंजन करें।) यहाँ शृंगार रस प्रधान होने के कारण, 'अलंकार्य' है और शान्त रस गौण होने के कारण 'अलंकार' है । ऐसे स्थलों में रसवद् अलंकार माना जाता है।

निष्कर्षतः जहाँ कोई अनुप्रास, उपमा आदि अलंकार, रस, भाव आदि आठों में किसी एक का उपकार करता है वहाँ उस अलंकार को 'अलंकार' कहा जाता है और रस आदि को 'अलंकार्य'।

क) जहाँ रस, भाव आदि आठों में से कोई एक किसी अन्य का उपकार करता है तो उस उपकृत रस (प्रधान रस) को अलंकार्य कहते हैं और उपकारक रस को 'रसवद् अलंकार'।

ख) यही स्थिति महाकाव्य, नाटक आदि में भी मानी जाती है कि प्रधान (अंगी) रस को 'अलंकार्य' कहते हैं और गौण (अंग) रस को अलंकार।

आप पूछ सकते हैं कि किस स्थिति में रस को रसवद् अलंकार मान लिया जाता है। उत्तर होगा कि जो रस (अलंकार्य) का उपकार करे उसे 'अलंकार' कहते हैं— चाहे वह अनुप्रास अथवा उपमा अलंकार हो अथवा शृंगार आदि कोई रस हो। इस स्थिति में यह उपकारक रस 'रसवद् अलंकार' कहलाता है। लेकिन प्रसंग यहाँ समाप्त नहीं हो जाता। कुन्तक ने आनन्दवर्धन के इस मन्तव्य को अस्वीकृत किया है कि शृंगार आदि रस को अलंकार्य माना जाए और अनुप्रास, उपमा आदि को अलंकार। उनके अनुसार 'रस' अलंकार्य नहीं है, अपितु 'शब्दार्थ' अलंकार्य है -

अलंकृतिरलंकार्यमपोद्दृत्य विवेच्यते।
तदुपायतंया, तत्वं सालंकारस्य काव्यता॥
अलंकार्यम् अलंकरणीयं वाचकरूपं वाच्यरूपं च। (वक्रोक्ति जीवित 1.6 तथा वृति)

अर्थात् काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों में 'अलंकार' और 'अलंकार्य' (शब्दार्थ) का प्रतिपादन समझने-समझाने के लिए अलग-अलग किया जाता है, पर काव्यत्व तो 'अलंकार-साहितक' को कहते हैं। जैसे आभूषण शरीर से अलग किये जा सकते हैं उसी प्रकार अनुप्रास, उपमा आदि अलंकार 'अलंकार्य' से- शब्दार्थ रूप काव्य शरीर से - अलग नहीं किये जा सकते। अतः काव्यत्व तो अलंकार-सहित होता है, इसके बिना नहीं होता। एक छोटा सा उदाहरण लीजिए - 'मुख चन्द्रमा है', इसमें रूपक अलंकार है, पर हम रूपक अलंकार को शब्दार्थ-रूप काव्यशरीर से अलग नहीं कर सकते जैसे कि आभूषणों को अपने शरीर से अलग कर सकते है। अतः कुन्तक का मन्तव्य है कि अनुप्रास, उपमा आदि अलंकार है, और 'शब्दार्थ' (रूपी काव्य शरीर) अलंकार्य है। इस प्रसंग में कुन्तक का मत भी आगे मान्य हुआ।

हिन्दी में अलंकार-विवेचन

रीतिकालीन रीतिसिद्ध आचार्यों में से कुछ आचार्यों ने काव्य के सभी अंगों - काव्य स्वरूप, शब्द शक्ति, ध्वनि, रस, गुण, अलंकार आदि - का विवरण प्रस्तुत किया, जैसे कि चिन्तामणि, कुलपति, देव आदि ने। ये विविध-काव्यांगनिरूपक आचार्य कहलाते हैं। कुछ आचार्यों ने रसनिरूपण के अन्तर्गत शृंगार रस के आलम्बन-प्रसंग में नायक-नायिका-भेद का प्रतिपादन किया, जैसे कि तोष, मतिराम, रसलीन आदि ने और कुछ आचार्यों ने अलंकार-ग्रन्थ लिखे यथा -जसवन्तसिंह, मतिराम, भूषण, पद्माकर आदि ने। उल्लेख्य है कि इन रीतिकालीन अलंकार-निरूपक आचार्यों को संस्कृत के भामह, दण्डी और उद्भट के समान अलंकारवादी आचार्य नहीं कहना चाहिए, अलंकार-निरूपक आचार्य कहना चाहिए।

इन रीतिकालीन आचार्यों से पूर्व भक्तिकालीन आचार्य **केशव** ने अपने ग्रन्थ 'कविप्रिया' में अलंकार के सम्बन्ध में कहा कि -

जदपि सुजाति सुलक्षनी सुबरन सरस सुवृत्त।
भूषण बिनु न विराजहीं कविता वनिता मित्त॥

अर्थात् कोई कविता सुजाति (स्वभावोक्ति अलंकार), भूषण, शोभा आदि लक्षणों, सुन्दर वर्णों और सुन्दर छन्दों से भले ही युक्त हो, परन्तु हे मित्र! वह अनुप्रास, उपमा आदि अलंकारों के बिना ऐसे शोभित नहीं होती जैसे कोई नारी भले ही शुभ लक्षणों से युक्त, सुन्दर वर्ण वाली, आकर्षक और सुभाषिणी क्यों न हो, पर वह कंकण, कुण्डल, नूपुर आदि आभूषणों के बिना शोभित नहीं होती। केशव को विशेषत: इसी कथन के आधार पर अलंकरवादी कहा जाता है। उनकी यह मान्यता उपर्युक्त अलंकारवादी आचार्य भामह के उपर्युक्त कथन से मेल खाती है कि 'न कान्तमपि निर्भूषं विभाति वनितामुखम्', पर इतना होते हुए भी केशव का रस के प्रति समादरभाव कुछ कम नहीं है -

ज्यों बिन डीठ न शोभिये लोचन लोल विशाल।
त्यों ही केशव सकल कवि, बिन वाणी न रसाल॥

वस्तुत: केशव अलंकारवादी हैं नहीं। कारण यह कि इन्होंने भामह, दण्डी और उद्भट के समान गुण, प्रबन्ध-काव्यत्व, नाटयसन्धि आदि को 'अलंकार' मानने का कहीं संकेत तक नहीं किया। वस्तुत: इन्होंने अपना 'कविप्रिया' ग्रन्थ दण्डी द्वारा रचित 'काव्यादर्श' के आधार पर प्राय: प्रस्तुत किया है, और अपना एक अन्य ग्रन्थ 'रसिकप्रिया' भानुमिश्र की 'रसमंजरी' के आधार पर। अत: इन्हें न तो 'कविप्रिया' के आधार पर अलंकारवादी कहना चाहिए और न ही 'रसिकाप्रिया' के आधार पर रसवादी। ये उक्त दोनों ग्रन्थों के रूपान्तरकार मात्र हैं। इनका किसी एक काव्यतत्व-विशेष के प्रति कोई आग्रह नहीं था।

निष्कर्षत: रीतिकालीन आचार्यों ने अलंकार-विषयक सिद्धान्तपक्ष संस्कृत काव्यशास्त्र से ग्रहण किया, पर वे इसे समर्थ रूप मे प्रस्तुत नहीं कर सके। हाँ, उनके द्वारा प्रस्तुत अलंकारों के उदाहरण निःसंदेह सटीक हैं और अति कवित्वपूर्ण हैं। इधर आधुनिक काल में निम्नोक्त विद्वानों ने प्राय: मम्मट और विश्वनाथ के ग्रन्थों के आधार पर अलंकार-विषयक ग्रन्थ लिखे - मुरारीदान (जसवन्तभूषण), भानु-कवि (काव्यप्रभाकर), भगवानदीन (अलंकार मंजूषा), अर्जुनदास केडिया (भारती-भूषण), कन्हैयालाल पोदार (अलंकारमंजरी), रामदहिन मिश्र (काव्यदर्पण) आदि।

इनके अतिरिक्त हिन्दी के अनेक मनीषियों ने अलंकार के सम्बन्ध में अपने-अपने बहुविध विचार प्रस्तुत किये -

- आचार्य **महावीरप्रसाद द्विवेदी** के कथनानुसार अलंकारों का प्रयोग नवयुग की चेतना के अनुरूप बलात् नहीं करना चाहिए। (रसज्ञ रंजन, पृ.20)
- सादृश्यमूलक अलंकारों में प्रस्तुत और अप्रस्तुत का विविध रूप में साम्य दर्शाया जाता है। इसके सम्बन्ध में आचार्य **रामचन्द्र शुक्ल** का यह कथन अति महत्वपूर्ण हैं - 'अप्रस्तुत-योजना प्रस्तुत के अनुरूप होनी चाहिए और उसमें वस्तु-गुण और क्रिया अथवा व्यापार-समष्टि का भाव जगाने की वैसी क्षमता होनी चाहिए जैसी प्रस्तुत में है।' (चिन्तामणि, भाग।, पृष्ठ-168)
- **बाबू गुलाबराय** की मान्यता है, 'जब तक अलंकार भीतरी उत्साह के द्योतक होते हैं तब तक वे शोभा को उत्पन्न करने वाले कहे जा सकते हैं, किन्तु जब वे रूढ़ि या परम्परा-मात्र रह जाते है, तभी वे भार रूप दिखाई देने लगते हैं।' (सिद्धान्त और अध्ययन, पृष्ठ 4)
- **डॉ. नगेन्द्र** अलंकारों के रचना के मूल कारण की तलाश करते हुए कहते हैं -'मन के उच्छ्वास के साथ वाणी अनिवार्यत: उच्छ्वसित हो जाती है। वाणी का यही उच्छ्वास उक्ति-वैचित्र्य है। इसलिए व्यापक अर्थ में अलंकार उक्ति-वैचित्र्य है।' (रीतिकाव्य की भूमिका, पृष्ठ 94-95)

आधुनिक मनीषियों के उक्त कथनों का निष्कर्ष यह है कि काव्य में अलंकारों का प्रयोग विषयानुरूप तथा नियन्त्रित रूप से में किया जाना चाहिए।

5.5 रीति-सिद्धान्त (रीति संप्रदाय)

आप रस-सिद्धान्त और अलंकार सिद्धान्त के विषय में पढ चुकें हैं। इन सिद्धान्तों के प्रवर्तक क्रमश: भरत और भामह हैं। भामह के बाद **वामन** हुए। इन्होंने रीति सिद्धान्त का प्रवर्तन किया। इनके ग्रन्थ का नाम 'काव्यालंकारसूत्रवृत्ति' है। रीति और गुण--ये दोनो काव्यांग परस्पर-सम्बन्धित हैं। अतः यहाँ रीति-सिद्धान्त के अन्तर्गत रीति और गुण, इन दोनों पर प्रकाश डाला जा रहा है।

5.5.1 रीति शब्द का व्युत्पत्तिपरक अर्थ

'रीति' शब्द की व्युत्पत्ति है - 'रीयते गम्यतेइतिऽनेन रीतिः', अर्थात् मार्ग, जिसके द्वारा गमन किया जाय। काव्यशास्त्र में रीति से तात्पर्य है काव्यरीति, काव्यमार्ग, काव्यपथ, आदि। यों, समझा यह जाता है कि भारतीय काव्यशास्त्रीय 'रीति' शब्द से अभिप्रेत है--शैली (style) लेखन-प्रक्रिया, लेखन-प्रकार writing आदि। पर यहाँ 'रीति' शब्द शैली आदि शब्दों से, एक सीमा तक, सम्बन्धित अवश्य है, इन शब्दों का पर्यायवाची नहीं है।

5.5.2 वामन से पूर्व रीति और गुण विषयक चर्चा

वामन-सम्मत रीति-सिद्धान्त का निरूपण करने से पूर्व, आइए, पहले यह देख लें कि वामन से पूर्व रीति और गुण इन दोनों पर क्या चर्चा हुई थी। उल्लेख्य है कि वामन से पूर्व (1) 'रीति' शब्द का प्रयोग नहीं हुआ था, दण्डी ने 'काव्य मार्ग' शब्द का प्रयोग किया था। (2) भरत और दण्डी दोनों ने श्लेष, प्रसाद, समता आदि दस गुण गिनाये थे, वही वामन ने भी गिनाये, पर इन तीनों आचार्यो द्वारा इन गुणों के जो लक्षण बताये गये थे, वे आपस में प्रायः मेल नहीं खाते। (3) भामह ने काव्य के दो प्रकार बताये थे - वैदर्भ और गौडीय, और दण्डी ने भी काव्यमार्ग के दो भेद बताये थे--वैदर्भ और गौड। (4) दण्डी ने उक्त मार्गो के प्रसंग में उक्त दस गुणों का निरूपण किया था कि श्लेष आदि दस गुण वैदर्भ मार्ग के प्राण है। इधर वामन ने तीन रीतियाँ मानी हैं--वैदर्भी, गौड़ीया और पांचाली और इन्हीं तीनों का संबंध गुणों के साथ स्थापित किया।

पर वस्तुतः देखा जाए तो वामन के रीति-सिद्धांत पर उक्त तीनों आचार्यो - भरत, भामह और दंडी के उपर्युक्त प्रसंगों का कोई विशिष्ट प्रभाव है नहीं। वामन ने अपने से पूर्ववर्ती आचार्यो से पारिभाषिक शब्द भले ही लिए हैं, पर इनका रीति-सिद्धांत निजी है। उन आचार्यों की धारणाओं से मेल नहीं खाता। वामन के पश्चात् इस विषय पर आनन्दवर्धन ने और इनके आलोक में मम्मट और विश्वनाथ ने इस विषय पर प्रकाश डाला। इनकी चर्चा यथास्थान आगे की जा रही है।

5.5.3 वामन सम्मत रीति और गुण

वामन के अनुसार **रीति का लक्षण** है - 'विशिष्टा पदरचना रीतिः' और उसमें यह विशेषता गुणों के समावेश आती है - 'विशेषो गुणात्मा'। उनके अनुसार गुण कहते हैं - काव्य के शोभाकारक धर्म को (**काव्यशोभायाः कर्तारो धर्मा गुणाः।** -- काव्यालंकारसूत्रवृत्ति 3.11) काव्य का यह शोभाकारण धर्म शब्दगत भी है और अर्थगत भी। इनकी संख्या दस-दस है। काव्य कहते हैं - गुण और अलंकार से संस्कृत (युक्त) शब्दार्थ को, यों गौण रूप से भले ही शब्दार्थ को काव्य कह दिया जाए। (**काव्यशब्दोऽयं गुणालंकारसंस्कृतयोः शब्दार्थयोर्वर्तते। भक्त्या तु शब्दार्थमात्रवचनोऽत्र गृह्यते।** -- काव्यालंकारसूत्रवृत्ति 1.1.1)

रीतियाँ तीन हैं - वैदर्भी गौड़ी और पांचाली। वैदर्भी में सभी गुण रहते है--दस शब्दगुण और दस अर्थगुण, अथवा केवल दस शब्दगुण अथवा केवल दस अर्थगुण। गौड़ीया में दो गुण रहते हैं--ओज और कान्ति, और पांचाली में भी दो गुण--माधुर्य और सौकुमार्य। जिस प्रकार चित्र में रेखाओं का समन्वय होता है, उसी प्रकार ये रीतियाँ भी अपने-अपने काव्य-गुणों का समन्वय ही हैं। (**एतासु तिसृषु रीतिषु रेखास्विव चित्रं काव्यं प्रतिष्ठितमिति।** -- काव्यालंकारसूत्रवृत्ति 1.2.13)

इनमें से वैदर्भी सर्वश्रेष्ठ है, क्योंकि इसमें सभी गुण विद्यमान रहते है । वामन-सम्मत वैदर्भी रीति सदा असमस्तपदा समास रहिता तो नहीं होती, पर हाँ, जब वह समास-रहिता होती है तो उसे 'शुद्धा वैदर्भी' कहा जाता है। समास-प्रयोग के आधार पर वैदर्भी को असमस्त-पदा अथवा समास-रहिता कहा गया है, गौडीया को उदभटपदा तथा समासबहला और पांचाली को कोमलपदा।

1. वामन-सम्मत रीति उस पद-रचना को कहते हैं जो गुणों से युक्त होती है।

2. गुण कहते हैं - 'काव्य की शोभा करने वाले धर्म को'। आपने अलंकार-सिद्धान्त के प्रकरण में पढा है कि दण्डी ने अलंकार का लक्षण किया था--काव्य की शोभा उत्पन्न करने वाले धर्म को अलंकार कहते हैं, पर वामन ने यही लक्षण गुण का माना है - **काव्यशोभायाः कर्तारो धर्माः गुणाः।** (काव्यालंकारसूत्रवृत्ति 3.11)

   अर्थात् काव्य की शोभा उत्पन्न करने वाला धर्म गुण कहलाता है। और, वामन के अनुसार अलंकार उसे कहते हैं जो गुण द्वारा उत्पन्न शोभा का वर्धक है। गुण और अलंकार में से वामन ने गुण को नित्य माना है और अलंकार को अनित्य। अर्थात् काव्य में गुण तो अनिवार्यतः विद्यमान रहता है, पर अलंकार अनिवार्यतः विद्यमान नहीं रहता। श्लेष आदि दस गुणों का प्रतिपादन हम आगे कर रहे हैं। 'अलंकार' शब्द से अभिप्रेत है - अनुप्रास, यमक आदि शब्दालंकार और उपमा, रूपक आदि अर्थालंकार।

5.5.4. वामन-सम्मत शब्दगुण और अर्थगुण

वामन के रीति-सिद्धान्त पर प्रकाश डालने से पूर्व यहाँ वामन-सम्मत शब्दगुणों और अर्थ-गुणों का स्वरूप प्रतिपादित करना अपेक्षित है -

क) शब्दगुण

1. **ओज** : ओज बन्ध (रचना) की गाढता को कहते हैं - 'गाढबन्धत्वमोज,' ।
2. **प्रसाद** : प्रसाद बन्ध की शिथिलता को -'शैथिल्यं प्रसाद': ।
3. **श्लेष** : मसृणता का नाम है 'मसृणत्वं श्लेषः' बहुत से पदों का एक पद के समान भासित होना मसृणता कहलाता है।
4. **समता** : मार्ग का अभेद है - 'मार्गाभेदः समता,' अर्थात् जिस शैली से काव्य-रचना का आरम्भ किया जाए, अन्त तक उसका त्याग न करना।
5. **समाधि** : आरोह-अवरोह (उतार-चढाव) के क्रम को कहते है - 'आरोहोवरोहक्रमः समाधिः' अर्थात् जहाँ आरोह के बाद आवरोह, और अवरोह के बाद आरोह का क्रम निभाया गया हो।
6. **माधुर्य** : वहाँ होता है जहाँ पदों को पृथक् रखा गया हो 'पृथक् पदत्वं माधुर्यम्।'
7. **सुकुमारता** : बन्ध की अकठोरता (अपरुषता) को कहते है 'अजरठत्वं'
8. **सौकुमार्यम्** और **उदारता** बन्ध की विकटता को कहते हैं - 'विकटत्वमुदारता।' विकटता से अभिप्राय है - पदों का नृत्य करते प्रतीत होना।
9. **अर्थव्यक्ति** : गुण वर्ण्य विषय की स्पष्टता का नाम है - 'अर्थव्यक्तिहेतु-त्वमर्थव्यक्तिः' , और
10. **कान्ति** : बन्ध की उज्जवलता को कहतें हैं - औज्ज्वल्यं कान्तिः'।

इसी प्रसंग में यह उल्लेख्य है कि वामन ने शब्दगत गुणों को केवल पाठ का धर्म नहीं माना, क्योंकि वे सर्वत्र ऐसे नहीं दिखायी देते -'न पाठधर्माः सर्वत्रादृष्टेः'। इसका आशय यह है कि किसी रचना में यदि समाधि गुण न हो, किन्तु फिर भी, यदि कोई पाठक उसे आरोह-अवरोह (उतार-चढाव) के क्रम से पढने लगे तो वहाँ समाधि गुण नहीं माना जाएगा। जहाँ उतार-चढाव वास्तव में हो, वहीं यह गुण माना जाएगा। इसी प्रकार अन्य गुणो के विषय में भी यही स्थिति है।

ख) अर्थगुण

1. **ओज अर्थ** की प्रौढ़ता है - अर्थस्य प्रौढिरौजः।
2. **प्रसाद अर्थ** की विमलता को कहते हौ - अर्थवैमल्यं प्रसादः।
3. **श्लेष** कहते हैं घटना को - घटना श्लेषः। यहाँ घटना से तात्पर्य है - निम्नोक्त चार तत्वों की श्लिष्टता अथवा योग - (क) अनेक क्रिया-परम्परा, (ख) विदग्धचेष्टा, (ग) प्रसिद्ध वर्णन शैली, और (घ) युक्ति विन्यास।
4. **समता** कहते हैं अविषमता को--अवैषम्यं समता।। समता दो प्रकार की होती है--क्रम का न टूटना तथा सुगमतापूर्वक अर्थ का समझ में आना।

5. **समाधि** से अभिप्राय है अर्थदृष्टि (अर्थचमत्कार) --अर्थदृष्टिः समाधिः। इसके दो रूप है - (क) कवि की नवीन उद्‌भावना पर आश्रित, (ख) अन्य कवियों की उद्‌भावना पर आश्रित। ये दोनों रूप स्फुट भी होते हैं और अस्फुट भी।

6. **माधुर्य** उक्ति के वैचित्र्य का नाम है - उक्तिवैचित्र्यं माधुर्यम्।

7. **सकुमारता** कठोरता का अभाव है - अपारूष्यं सौकुमार्यम्।

8. **उदारता** ग्राम्यता के अभाव को कहते हैं - अग्राम्यत्वमुदारता।

9. **अर्थव्यक्ति** कहते हैं वर्णनीय पदार्थो के स्वभाव की स्पष्टता को - वस्तुस्वभाव-स्फुटत्वमर्थव्यक्तिः।

10. **कान्ति** गुण वहाँ होता है जहाँ शृंगार आदि रस दीप्त हों - दीप्तरसत्वं कान्तिः।

वामन-सम्मत शब्दगुणों और अर्थगुणों पर एक बार दृष्टि डालने पर आप अनुभव करेंगे कि शब्दगुण काव्य के वाक्य-विन्यास, इसकी बनावट से संबन्धित हैं, और अर्थगुण काव्य के अधिकाशंतः बाह्य अर्थ अर्थात् वाच्यार्थ से संबंधित हैं--केवल अर्थगत कान्ति गुण ही ऐसा गुण है जो रस से--काव्य के आन्तरिक रूप से संबंधित है।

वामन ने रीति को काव्य की आत्मा माना है। इनसे पूर्ववर्ती किसी भी आचार्य ने इस प्रश्न पर विचार नहीं किया था कि किस काव्यतत्त्व को काव्य की आत्मा माना जाए। यह समस्या सर्वप्रथम वामन ने उठायी उनके शब्दों में 'रीतिरात्मा काव्यस्य'। इसका स्पष्ट कारण यह है कि जिन दस शब्दगत और दस अर्थगत गुणों से रीति निर्मित होती है, उनमें काव्य के अधिकांश तत्व, किसी न किसी रूप में, अनुस्यूत हैं। यहाँ तक रस जैसा महनीय काव्य-तत्व भी रीति का एक अंग है। इसी व्यापकता के कारण वामन की 'रीति' काव्य की आत्मा मानी गयी है।

5.5.5 रीति-सिद्धान्त की अस्वीकृति अथवा खण्डन

सभी काव्य तत्वों के किसी न किसी रूप में समाहित करने के बावजूद रीति को काव्य की आत्मा मानना संभव नहीं है। कारण स्पष्ट है कि वामन के मत में रीति काव्य का अनिवार्य साधन होते हुए भी अधिकांशतः एक बाह्यपरक काव्य-तत्व है। वस्तुतः काव्य की आत्मा वही काव्य-तत्व बन सकता है जो कि काव्य का अनिवार्य साधन तो हो ही, साथ ही वह नितान्त आन्तरिक भी हो। आगे चलकर यह सिद्धान्त किसी आचार्य द्वारा स्वीकार नहीं किया गया, अपितु इसका उपहास तक उड़ाया गया -

1. आनन्दवर्धन ने कहा - 'रीतियाँ तो उन लोगों द्वारा चला दी गयीं जो ध्वनि जैसे अवर्णनीय काव्यतत्व को समझने में असमर्थ थे।'

   अस्फुटस्फुटितं काव्यतत्वमेतद् यथोदितम।
   अशक्नुवदिभर्व्याकर्तुं रीतयः सम्प्रवर्तिताः।। (ध्वन्या. 3.47)

2. कुन्तक ने कुछ इस प्रकार के स्वर में कहा - 'अजी हटाओ भी, कौन रीति-जैसी निःसार वस्तु के साथ अपना मगज खपाए' - 'तदलमनेन निस्सार-वस्तु-परिमल-व्यसनेन'।

3. मम्मट और उनके अनुकरण में विश्वनाथ ने वामन-सम्मत सभी शब्दगत और अर्थगत गुणों का खण्डन किया। इस का निष्कर्ष इस प्रकार है -

   क) कुछ गुण तो आनन्दवर्धन द्वारा निर्दिष्ट माधुर्य, ओज और प्रसाद नामक इन तीन गुणों में अन्तर्भूत हो सकते हैं - जैसे, शब्दगत श्लेष, समाधि, उदारता, प्रसाद और अर्थव्यक्ति गुणो का अन्तर्भाव 'प्रसाद' गुण में कर सकते हैं।

   ख) कुछ गुण दोषाभाव-रूप होते हैं - जैसे (1) शब्दगत सुकुमारता गुण परूषता दोष का अभाव ही है। (2)उदारता गुण ग्राम्यता दोष के अभाव को ही कहते हैं। (3) अर्थगत समता गुण अविषमता के अभाव का ही दूसरा नाम है।

   ग) कुछ गुण 'गुण' न होकर कहीं दोष-रूप हो जाते हैं - जैसे शब्दगत समता गुण किन्हीं स्थितियों में दोष बन जाता है।

5.5.6 रीति और गुण का अंततः मान्य स्वरूप

क) रीति का अंततः मान्य स्वरूप

आनन्दवर्धन ने रीति को 'संघटना' (सम्यक् घटना = रचना) नाम दिया और इसे 'समास' से सम्बद्ध मानकर इसके तीन रूप स्वीकार किये-असमासा, अल्पसमासा और दीर्घसमासा। उनके अनुसार संघटना का कार्य है गुणों के आश्रित रहकर रस को व्यक्त करना।

आनन्दवर्धन से ही प्रेरणा प्राप्त कर मम्मट और विश्वनाथ ने रीति का लक्षण इस प्रकार प्रस्तुत किया- मम्मट-नियत वर्णो का रस-विषयक व्यापार वृत्ति (रीति) कहलाता है।

विश्वनाथ पद-संघटना को रीति कहते हैं। यह अंग-संस्था के समान है, अर्थात् काव्य-पुरूष रूपक में इसकी स्थिति शरीर के अवयवों की बनावट के समान है, और इसी रूप में रहकर वह रस का उपकार करती है।[1]

इन दोनों आचार्यो ने तीन रीतियाँ मानी-वैदर्भी, गौड़ी और पांचाली[2], और इन्हें क्रमशः माधुर्य, ओज और प्रसाद के रचनागत स्वरूप के साथ सम्बद्ध किया। इस प्रकार इन दोनों आचार्यो के अनुसार रीति का स्वरूप इस प्रकार है -

1. पदों की संघटना का नाम रीति है।
2. ये तीन हैं, जो कि क्रमशः माधुर्य, ओज और प्रसाद गुणों के व्यंजक नियत वर्णो से रचित होती हैं। क्रमशः समास की रहितता, अधिकता और न्यूनता इनका बाह्य रूप है।
3. शब्दार्थ के धर्म गुण पर आश्रित रहकर ये रीतियाँ रस की अभिव्यक्ति में साधक बनती हैं।

ऊपर कहा गया है कि मम्मट और विश्वनाथ ने वैदभी, गौड़ी, और पांचाली -- ये तीन रीतियॉ मानी हैं। इन तीनों का लक्षण प्रस्तुत करने से पूर्व गुण का स्वरूप समझना आवश्यक है।

ख) गुण का अंततः मान्य स्वरूप

आनन्दवर्धन से पूर्व

1. भरत मुनि ने 'गुणों को दोषों से विपर्यस्त'[3] कहा था, अर्थात् गुण दोषों से विपरीत होते हैं, अथवा अन्यथा-स्थित होते हैं अथवा उनके अभावनात्मक होते हैं।[4]
2. दण्डी के अनुसार दोष यदि काव्य की विपति (विनाश) के लिए होता है तो गुण काव्य की सम्पदा (वृद्धि) के लिए।[5]
3. वामन के शब्दों में 'काव्य की शोभा करने वाले धर्म गुण कहलाते हैं।' किन्तु आगे चलकर आनन्दवर्धन ने गुण को प्रकारान्तर से 'चित्तवृति' का पर्याय स्वीकार करते हुए इसका स्वरूप रस पर आधारित किया। उनके अनुसार - 'गुण उन्हें कहते हैं जो काव्य के अंगीभूत रस का अवलम्बन करते हैं।'[6]

मम्मट और विश्वनाथ ने आनन्दवर्धन-प्रस्तुत उक्त धारणा का आधार ग्रहण कर गुण के स्वरूप को और अधिक स्पष्ट किया। इन दोनों आचार्यों के मतानुसार कुल मिलाकर गुणों का स्वरूप इस प्रकार है - गुण रस का धर्म होने के कारण उसके साथ अचल भाव से रहता है और उसका उत्कर्षक (साधक) है, साथ ही वह गौण रूप से शब्दार्थ का भी धर्म है। इस लक्षण का विश्लेषण इस प्रकार किया जा सकता है:

---

[1] पदसंघटना रीतिरंगसंस्था विशेषवत्।
उपकर्त्री रसादीनाम् .....॥ साहित्यदर्पण 9.1

[2] विश्वनाथ ने वैदर्भी और पांचाली रीतियों से मिश्रित 'लाटी' नामक एक रीति और भी मानी है।

[3] एते दोषास्तु विज्ञेया.....एत एव विपर्यस्ता: गुणा: । (नाटयशास्त्र 17.95)

[4] विपर्यस्त कहते हैं - किसी से विपरीत, अथवा अन्यथा-स्थित रूप को अथवा किसी के अभावात्मक रूप को।

[5] दोषाः विपत्रये तत्र, गुणाः सम्पत्रये यथा। का आदर्श 3.124

[6] 'तमर्थमवलम्बन्ते येऽङ्गिनं ते गुणाः स्मृताः।' (ध्वन्यालोक 2.6)

- जिस प्रकार शौर्य आदि गुण आत्मा के धर्म हैं, उसी प्रकार माधुर्य आदि तीन गुण भी रस के धर्म हैं।
- रसयुक्त रचना में गुण की स्थिति अचल (नित्य) है।
- गुण रस के सदा उत्कर्षक अर्थात् साधक होते हैं।
- जिस प्रकार शौर्य प्रमुख रूप से तो आत्मा का धर्म है और गौण रूप से उसे शरीर का धर्म भी मान लिया जाता है--उदाहरणार्थ, किसी स्थूलकाय किन्तु कायर भी व्यक्ति को हम शूर कह देते हैं, उसी प्रकार गुण भी प्रमुख रूप से रस का धर्म है, किन्तु साथ ही, गौण रूप से शब्दार्थ (रचना) का भी धर्म है, और गुण के इसी रचना-परक स्वरूप पर रीति आधारित है।

गुण अथवा चितवृत्ति

अभी ऊपर कहा गया है कि आनन्दवर्धन ने गुण को प्रकारांतर से 'चित्तवृति' का पर्याय माना। आनन्दवर्धन ने ध्वन्यालोक (2.8-10) में कहा है कि (क) माधुर्य गुण शृंगार आदि कोमल रसों से चित्त को द्रुत करता है। (ख)ओज गुण रौद्र आदि कठोर रसों से चित्त को दीप्त करता है तथा (ग) प्रसाद गुण सब प्रकार के गुणों में चित्त को (व्याप्त) करता है। आगे चल कर मम्मट ने भी काव्य प्रकाश (8.68-70) में उक्त आधार पर माधुर्य, ओज और प्रसाद गुणों में चित्त की क्रमशः यही तीन वृत्तियाँ स्वीकार कीं - चित्तद्रुति, चित्तदीप्ति और चित्तव्याप्ति।

गुण को, इसी कारण, 'चित्तवृत्ति' का पर्याय मानते हैं, और यह केवल इसी स्थिति में ही रस का अचल (नित्य) तथा उत्कर्षक धर्म है।

जैसा कि आप ऊपर पढ़ आए हैं आनन्दवर्धन और उनके अनुयायी मम्मट तथा विश्वनाथ के अनुसार गुण की स्थिति एक और भी होती है। किसी रचना में कोमल वर्णों का प्रयोग होने पर वहाँ माधुर्य गुण माना जाता है, कठोर वर्णों का प्रयोग होने पर ओज गुण, गौण रूप से शब्दार्थ अथवा रचना के धर्म माने जाते हैं न कि रस के। उल्लेख्य है कि इन्हीं रचनागत तीनों गुणों के साथ क्रमशः वैदर्भी, गौड़ी और पांचाली रीतियों को सम्बद्ध किया गया है।

इस प्रकार निम्नोक्त तत्वों में पारस्परिक सम्बन्ध स्थापित हो जाता है - (1) रस, (2) चित्तवृति (3) गुणः रस का नित्य धर्म, (4) गुणः शब्दार्थ (रचना) का गौण धर्म, (5) रीति, (6) वर्ण-प्रतिकूलता नामक रसदोष। इस प्रकार चित्तवृत्ति का पर्याय गुण तो रस का नित्यधर्म है, किंतु वर्ण योग्यता से द्योतित गुण शब्दार्थ (रचना) गौण (अनित्य) धर्म है।

5.5.7 संघटना, रचना-शैली अथवा रीति प्रयोग के नियामक तत्व

आनन्दवर्धन ने संघटना (रीति) के प्रयोग के संबंध में चार नियामक तत्वों का उल्लेख किया है। (1) वक्तृ-औचित्य, (2) वाच्यौचित्य, (3) विषयौचित्य और (4) रसौचित्य, अर्थात् वक्ता, वाच्य, विषय और रस - इन चारों के समन्वित रूप के ही औचित्य को ध्यान में रखते हुए संघटना का प्रयोग करना चाहिए -

1. **वक्तृ-औचित्य** : वक्ता स्वयं कवि अथवा कवि-निबद्ध पात्र होता है। पात्र नायक होता है अथवा नायक से इतर कोई अन्य पात्र होता है। नायक चार प्रकार के होते हैं - धीरोदात्त, धीरोद्धत, धीरललित और धीरप्रशान्त। यों तो कवि अथवा पात्र प्रायः रस-भाव-युक्त कथनों का प्रयोग करते हैं, किंतु कभी-कभी औचित्य के ही आधार पर उन्हें रस-भाव-रहित कथनों का प्रयोग करना पड़ता है। इस प्रकार इन सबके औचित्य के आधार पर असमस्ता, अल्पसमस्ता तथा दीर्घ-समस्ता संघटना का प्रयोग काव्य-चमत्कार का साधक होता है।
2. **वाच्यौचित्य** : यहाँ वाच्य से तात्पर्य है वर्णनीय वस्तु अथवा कथानक। यह अभिनेय और अनभिनेय दोनों प्रकार का होता है, तथा उत्तम, मध्यम, अधम आदि सब प्रकार के पात्रों की प्रकृति के साथ सम्बद्ध रहता है। इन सबके अनुरूप संघटना का प्रयोग समुचित है।
3. **विषयौचित्य** : यहाँ विषय से तात्पर्य है काव्य-प्रकार, अर्थात् प्रबंध, मुक्तक, चम्पू, दृश्य-काव्य, कथा, आख्यायिका आदि। इन सब के औचित्य को ध्यान में रख कर संघटना का प्रयोग करना चाहिए। उदाहरणार्थ, प्रबंध-काव्यों की, विशेषतः महाकाव्यों की, संघटना (रचना-शैली) चाहे कितनी सघन हो, किंतु दृश्यकाव्य में उससे बचना चाहिए। इस प्रसंग में आख्यायिका

और कथा नामक गद्यकाव्य का उल्लेख करना आवश्यक है। आख्यायिका में सदा गाढबन्धता का प्रयोग होना चाहिए, चाहे शृंगार रस का वर्णन भी क्यों न हो, और कथा में सदा मसृण रचना का प्रयोग करना चाहिए, चाहे रौद्र रस का वर्णन भी क्यों न हो। कारण संभवतः यह है कि आख्यायिका का पाठक विशिष्ट वर्ग का व्यक्ति होता है, और कथा का पाठक सामान्य वर्ग का। पर यह आदर्श स्थिति नहीं है।

4. **रसौचित्य** : संघटना का प्रयोग रसानुकूल होना चाहिए। उदाहरणार्थ, करुण, विप्रलम्भ, शृंगार, शांत आदि कोमल रसों में मध्यमसमासा संघटन का प्रयोग समुचित है और वीर, रौद्र, भयानक आदि कठोर रसों में दीर्घ समासा रचना का।

आनन्दर्धन का अभिप्राय यह है कि उपर्युक्त चारों - वक्ता, वाच्य, विषय और रस - के अलग-अलग रूप को नहीं, अपितु इनके समन्वित रूप को ही लक्ष्य में रखकर संघटना का प्रयोग श्रेयस्कर है। वस्तुतः, काव्य में इन्हें पृथक-पृथक किया भी नहीं जा सकता - यों समझने-समझाने के लए इनका उक्त विभाजन कर दिया गया है।

इस प्रकार हमने देखा कि :

- वामन-सम्मत रीति एक विशिष्ट प्रकार की पद-रचना है, जो गुणों से निर्मित होती है। इन गुणों में काव्य के शोभाकार सभी धर्म समाविष्ट हो जाते हैं और इनसे रीति बनती है अतः वामन ने रीति को काव्य की आत्मा माना है।
- वामन ने रीतियों के स्वरूप-निर्देश में समास-बद्धता की ओर भी संकेत किया था - संभवतः इसी आधार पर आनन्दवर्धन ने 'रीति' के स्थान पर 'संघटना' शब्द का प्रयोग करते हुए इसे केवल 'समास-बद्धता' से संबंधित कर दिया।
- आगे चलकर, एक ओर इसी 'संघटना' शब्द को लेते हुए और दूसरी ओर इसे गुणों से सम्बद्ध करने और साथ ही इसे रसोपकारिका मानने के उद्देश्य से मम्मट ने इसका नूतन लक्षण प्रस्तुत किया कि 'ऐसी पद संघटना रीति कहलाती है जो गुणों अर्थात् गुण-व्यंजक वर्णों पर आश्रित रह कर रस का उत्कर्ष करती है, और विश्वनाथ के शब्दों में - रीति रस का उत्कर्ष उस प्रकार करती है जिस प्रकार हमारी अंग-संथान (अंगों की बनावट) हमारी आत्मा का प्रकारान्तर से उत्कर्ष करती है।'

इस प्रकार कहाँ तो वामन के समय में रीति पर गुण आश्रित थे और रीति काव्य की आत्मा थी, और कहाँ मम्मट, विश्वनाथ के समय में अब रीति गुणों पर आश्रित है, और शब्दार्थ -रूप काव्य-शरीर की अंग-संस्था के समान रहकर रस-रूप काव्यात्मा का प्रकारांतर से उत्कर्ष करती है। अब यह केवल रचनामात्र है, आधुनिक शब्दावली में कहें तो एक 'शैली' मात्र है, और अधिकांशतः काव्य के बाह्य पक्ष - कला पक्ष- के स्वरूप की निश्चायक है। काव्य में कलापक्ष का निस्संदेह महत्व है, इस दृष्टि से 'रीति' का भी काव्य में निजी महत्व एवं स्थान है, भले ही यह 'काव्य की आत्मा न मानी जाए'।

'रीति-सिद्धांत' का यह प्रकरण भारतीय काव्यशास्त्र की दृष्टि से समाप्त हुआ। निष्कर्ष यह कि -

i) वामन को रीति-सिद्धांत का प्रवर्तक माना जाता है, यद्यपि इनसे पूर्व भरत, भामह और दंडी के ग्रंथों में रीति सिद्धांत के स्रोत उपलब्ध हो जाते हैं।

ii) वामन-सम्मत 'रीति' का लक्षण है - **गुणों से युक्त विशिष्ट पदरचना रीति कहलाती है।** गुण कहते हैं - काव्य की शोभा करने वाले धर्म को। गुण दस हैं, जो कि शब्दगत भी हैं और अर्थगत भी। रीतियाँ तीन हैं - वैदर्भी, गौड़ी और पांचाली। ये रीतियों विभिन्न गुणों के समावेश से बनती हैं। क्योंकि इन गुणों में काव्य के विभिन्न शोभाकर धर्म साक्षात् रूप से अथवा प्रकारान्तर से समाविष्ट हो जाते हैं अतः **रीति काव्य की आत्मा है।**

iii) पर आनन्वर्धन ने वामन के दृष्टिकोण को स्वीकार नहीं किया। उनके अनुसार संघटना (रीति) गुण पर आश्रित रहकर रस का उपकार करती है उस गुण पर जो शब्दार्थ का धर्म है न कि का रस का। उनकी यही मान्यता मम्मट ने और इनके बाद विश्वनाथ ने स्पष्ट शब्दों मे प्रस्तुत की।

iv) रीति काव्य के कलापक्ष की निर्देशिका है, अत: उसका निजी महत्व है, भले ही उसे आनन्दवर्धन आदि के अनुसार काव्य की आत्मा न माना जाए।

5.5.8 पाश्चात्य काव्यशास्त्र की दृष्टि में रीति (शैली)

रीति का जो विवेचन भारतीय काव्यशास्त्र में प्रस्तुत हुआ है उसका निष्कर्ष यह है कि रचना, वर्ण-योजना, संघटना आदि का ही दूसरा नाम रीति है। उधर पाश्चात्य काव्यशास्त्र में 'स्टाइल' अर्थात् शैली को जो विवेचन हुआ है वह भारतीय काव्यशास्त्रीय 'रीति' के ठीक अनुकूल तो नहीं है, पर हाँ, उसके आस-पास अवश्य है। इसका किंचित् दिग्दर्शन-प्रस्तुत है।

- **प्लेटो** ने तीन शैलियाँ स्वीकार कीं - सहज-सरल, विचित्र और मिश्र। इनमें से मिश्र को उन्होंने सर्वोत्कृष्ट माना है। सरल भी उपदेय है, पर विचित्र एक निकृष्ट शैली हे जिसमें बालक अथवा हीन कोटि के जन रूचि लेते है। ये तीनों रूप क्रमश: कुन्तक-सम्मत सुकुमार , विचित्र और मध्यम नामक गुणों के समानान्तर माने जा सकते है।

- **अरस्तू** के अनुसार शैली के दो मूल गुण हैं - स्पष्टता और औचित्य (विषय की उचितता), और दो मुख्य भेद हैं---साहित्य-शैली और विवाद-शैली। विवाद-शैली के दो उपभेद हैं--संसद् की शैली तथा न्यायालय की शैली। इनके अनुसार शैली के चार मुख्य दोष हैं - (1) समासों का अधिक प्रयोग (2) अप्रचलित शब्दों का प्रयोग, (3) दीर्घ, अनुपयुक्त तथा अधिक विशेषणों का प्रयोग (4) दूरारूढ तथा अनुपयुक्त रूपकों का प्रयोग। इधर, भारतीय काव्यशास्त्र में गौड़ी रीति को समास-बहुला कहा गया है--जो कि रौद्र, वीर, आदि कठोर रसों के उपयुक्त है, किन्तु शृंगार, करूण आदि कोमल रासों में इसका प्रयोग सदोष कहलाता है। शेष तीन दोषों को भारतीय काव्यशास्त्र में प्रतिपादित किसी न किसी दोष के समकक्ष रखा जा सकता है---अप्रचलित शब्दों का प्रयोग तो स्पष्टत: 'अप्रयोग' दोष है ही।

- **सिसरो** के अनुसार शैली, के चार तत्व हैं - (1) उपयुक्त शब्द-चयन, (2) स्पष्ट और मुहावरेदार भाषा, (3) चुने हुए शब्दों के द्वारा सामंजस्यपूर्ण रचना, (4) कर्कशता-रहित वर्ण-गुम्फ। इन्होंने शैली के दो भेद माने - (1) ऐटिक शैली अर्थात् सरल, ऋजु, अनलंकृत और संयत शैली; तथा (2) एशियाटिक शैली, अर्थात् अतिशय अलंकृत तथा चमत्कारपूर्ण शैली। इन्हें पढकर अनायास दण्डी द्वारा प्रस्तुत वैदर्भ और गौड नामक काव्य-मार्गो की स्मृति हो आती है।

- **होरेस** के अनुसार काव्य-शैली विवेक-सम्मत एवं स्पष्ट शब्द-योजना है, और **लांजाइनस** के अनुसार 'काव्य की महान् शैली' आत्मा की महती की प्रतिध्वनि है। इन्होंने शैली के पाँच उद्गम माने हैं - (1) धारणा की भव्यता, (2) भावना की तीव्रता, (3) अलंकारों का उपयुक्त प्रयोग, (4) भाषागत आभिजात्य; और (5) पदरचना की गरिमा और औदात्य।

- **बैन जान्सन** के अनुसार शैली का प्रमुख गुण है - प्रसाद, और प्रमुख दोष है - क्लिष्टता जिसके लिए व्याख्याता की आवश्यकता पड़े। हिन्दी में इसके क्रमशः उदाहरण हैं - इधर मैथिलीशरण गुप्त की और उधर केशव की अधिकतर कविता।

- **वर्डसवर्थ** की काव्य-भाषा के सम्बन्ध में मूल धारणा यह है कि काव्य में मानव की सहज-भाषा का प्रयोग होना चाहिए, और सहज-भाषा ग्राम्य-जन की भाषा में मिलती है। उन्होंने कृत्रिम एवं चमक-दमक से युक्त भाषा को निष्प्राण तथ काव्य के अनुपयुक्त माना। यदि वर्डसवर्थ ग्राम्य-जन द्वारा प्रयुक्त सहज भाषा से यह तात्पर्य लेते हैं कि काव्य-भाषा जन-साधारण द्वारा बोधगम्य होनी चाहिए तो उनकी धारणा एकांगी अवश्य है, पर नितान्त अग्राह्य एवं त्याज्य नहीं है, क्योंकि ऐसी भाषा भी विषयानुकूल उपयुक्त होती है, यद्यपि सर्वत्र उपयुक्त नहीं होती। साथ ही, कृत्रिम बाह्याडम्बर-युक्त भाषा को भारतीय काव्यशास्त्र में भी गर्हित कहा गया है। सबसे अधिक गर्हणा यमक और चित्र अलंकारों की गयी है किन्तु यदि वर्डसवर्थ ग्राम्यजन द्वारा प्रयुक्त 'सहज-भाषा' से तात्पर्य यही लेते हैं कि काव्य-भाषा अनलंकृत, अनगढ़ और यथा- तथ्यपूर्ण होनी चाहिए तो उनकी यह धारणा सर्वथा मान्य नहीं हो सकती।

- **मैथ्यू आर्नल्ड** उदात्त शैली के समर्थक थे, पर साथ ही उन्हें यह भी अभीष्ट था कि काव्य का विषय और उसकी शैली दोनों उदात्त होनी चाहिए।

- **क्रोचे** का अभिव्यंजना-सिद्धान्त मात्र अभिव्यंजना के पृष्ठपोषक हैं। वह उक्ति को महत्व देते हैं, अर्थ के अस्तित्व को स्वीकार नहीं करते। भारतीय काव्यशास्त्र में ऐसा एकांगी रूप कहीं भी व्यक्त नहीं हुआ--न अलंकार-सिद्धान्त में, न रीति-सिद्धान्त में, और न ही वक्रोक्त-सिद्धान्त में। यूरोप में भी इसे यथावत् स्वीकार नहीं किया गया।

- प्रसिद्ध आलोचक **आई.ए. रिचर्डस** के अनुसार 'शब्द या ध्वनि का प्रभाव' जैसी कोई वस्तु नहीं होती। वस्तुतः कोई शब्द अपने-आप में न कुरूप होता है और न सुन्दर। इसकी प्रभविष्णुता परिस्थितियों के अनुसार ग्राह्य एवं अग्राह्य, रूचिकर एवं अरूचिकर, सुन्दर एवं असुन्दर बनती रहती है। इस प्रकार रिचडर्स ने क्रोचे की मात्र अभिव्यंजना को अस्वीकार करते हुए विषय के अनुरूप अभिव्यंजना के सौन्दर्य को ग्राह्य और इसके असौंदर्य को अग्राहय माना। इधर भारतीय काव्यशास्त्र में यह धारणा रसानुकूल रीति-प्रयोग के समकक्ष है। उदाहरणार्थ, जो गौड़ी रीति वीर रस में ग्राह्य है वही शृंगार रस में गर्हित है।

इस प्रकार पाश्चात्य काव्यशास्त्र में स्टाइल (शैली) विभिन्न विचार-वीथियों में से गुजरती हुई अंततः वहीं आन पहुँची है जहाँ भारतीय काव्यशास्त्र में रीति आ पहुँची थी। मानव-मन के ऐक्य का यह एक प्रबल प्रमाण है। **समग्र रूप में कहा जा सकता है कि रीति अथवा इसकी समकक्ष शैली ऐसी शब्द-योजना है जिसका प्रयोग वर्ण्य विषय के अनुकूल ही सुंदर होता है, अन्यथा नहीं! साथ ही यह रचयिता के व्यक्तित्व की भी द्योतक होती है।**

भारतीय एवं पाश्चात्य दृष्टि से आदर्श 'रीति' अथवा 'शैली' के तीन प्रमुख तत्व हैं उपयुक्त शब्दचयन, विषयानुकूल मंजुल अथवा गाढ़ पदबंध और स्पष्टता। वस्तुतः इन्हीं गुणों में शेष सभी गुणों का समावेश हो जाता है। उपयुक्त शब्दचयन और स्पष्टता अर्थात् त्वरित अर्थावबोध तो सर्वत्र अपेक्षित है - भारतीय दृष्टि से इसे रचनागत प्रसाद गुण अथवा पांचाली रीति कह सकते हैं। मंजुल पद-बंधन में असमासता अथवा अल्पसमासता भी समाहित है और कोमल एवं मसृण वर्ण-योजना भी इसे रचनागत माधुर्य गुण अथवा वैदर्भी रीति मान सकते हैं। गाढ़ पद-बंधन से समास-बहुलता का समावेश भी है और कठोर एवं जटिल वर्ण-योजना का भी - इसे रचनागत ओज गुण अथवा गौडी रीति कह सकते हैं। यह तो स्पष्ट है ही कि किसी रचना में इन सभी तत्वों का एक-साथ सद्भाव किसी भी रूप में अपेक्षित नहीं है। स्पष्टता अथवा सुबोधता शैली का प्रधान तत्व है - यथासम्भव इसका सदभाव अत्यन्त उपादेय एवं श्रेयस्कर है।

5.6 कुछ उपयोगी पुस्तके

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, **रस-मीमांसा**, काशी नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी.

डॉ. नगेन्द्र,, **रस सिद्धांत**, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दरियागंज, नई दिल्ली.

डॉ. नगेन्द्र, **भारतीय काव्यशास्त्र की भूमिका**, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दरियागंज, नई दिल्ली.

डॉ. नगेन्द्र, **रीतिकाव्य की भूमिका**, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दरियागंज, नई दिल्ली.

डॉ. सत्यदेव चौधरी, **भारतीय काव्यशास्त्र**, अलंकार प्रकाशन, दिल्ली.

धीरेन्द्र वर्मा (संपा.), **हिंदी साहित्य कोश** (भाग 1), ज्ञानमंडल लिमिटेड, वाराणसी.

5.7 अभ्यास के लिए प्रश्न

1. रस के अंगों पर प्रकाश डालिए।
2. अलंकार सम्प्रदाय की शक्ति और सीमाओं पर विचार कीजिए?
3. काव्य में अलंकारों की उपयोगिता पर प्रकाश डालिए?
4. अलंकार तथा अलंकार्य का संबंध निरुपण कीजिए?
5. रीति-सम्प्रदाय की स्थापनाओं पर विचार कीजिए?
6. काव्य में रीति-गुण की महत्ता का प्रतिपादन कीजिए?
7. निम्नलिखित पर टिप्पणियाँ लिखिए -
   (क) विभाव
   (ख) आलम्बन और आश्रय
   (ग) अलंकारों के प्रकार
   (घ) काव्य के गुण

इकाई 6 भारतीय काव्यशास्त्र के प्रमुख संप्रदाय-II

इकाई की रूपरेखा

6.0 उद्देश्य
6.1 प्रस्तावना
6.2 ध्वनि सिद्धांत (ध्वनि संप्रदाय)
  6.2.1 ध्वनि के तारतम्य के आधार पर काव्य के तीन भेद
  6.2.2 ध्वनि तत्व तथा अन्य काव्य तत्व
  6.3.3 ध्वनि विरोधी आचार्य
  6.2.4 ध्वनि के प्रति पाश्चात्य दृष्टि
  6.2.5 हिंदी आचार्यों का ध्वनि संबंधी मत
6.3 वक्रोक्ति सिद्धांत (वक्रोक्ति संप्रदाय)
  6.3.1 कुंतक-सम्मत वक्रोक्ति के छः प्रमुख भेद
  6.3.2 वक्रोक्ति तथा अन्य काव्य तत्व
  6.3.3 वक्रोक्ति सिद्धांत की अस्वीकृति
  6.3.4 पाश्चात्य काव्य सिद्धांत में वक्रोक्ति
6.4 औचित्य सिद्धांत (औचित्य संप्रदाय)
6.5 समाहार और निष्कर्ष
6.6 कुछ उपयोगी पुस्तकें
6.7 अभ्यास के लिए प्रश्न

6.0 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ने के बाद आप :

- भारतीय काव्यशास्त्र के ध्वनि संप्रदाय, वक्रोक्ति संप्रदाय और औचित्य संप्रदाय के विषय में जानकारी दे सकेंगे,
- इन सिद्धांतों से मिलते-जुलते पश्चिमी काव्यशास्त्र के मतों के विषय में बता सकेंगे,
- इन सिद्धांतों के महत्व पर प्रकाश डाल सकेंगे।

6.1 प्रस्तावना

इकाई 5 के अंतर्गत आप रस, अलंकार और रीति-सिद्धांतों के विषय में पढ़ चुके हैं। प्रस्तुत इकाई में आप भारतीय काव्यशास्त्र के अन्य तीन सिद्धांतों अथवा संप्रदायों के विषय में पढ़ेंगे।

6.2 ध्वनि-सिद्धांत (ध्वनि संप्रदाय)

ध्वनि सिद्धांत के प्रवर्तक **आनंदवर्धन** है। ये नवम शती ई. में विद्यमान थे। इनके ग्रंथ का नाम 'ध्वन्यालोक' है, अर्थात् इसमें ध्वनि पर आलोक (प्रकाश) डाला गया है। आनंदवर्धन के सम्मुख पिछले तीन सिद्धांत थे - रस, अलंकार और रीति। उन्होंने अपने ग्रंथ में प्रमुखतया दो कार्य किए :

1. ध्वनि का स्वरूप तथा इसके भेद आदि प्रस्तुत किये।
2. रस आदि उक्त सिद्धांतों को, विशेषतः अलंकार और रीति को नूतन रूप प्रदान करते हुए इन्हें ध्वनि-सिद्धांत के अंतर्गत समाविष्ट किया।

इस प्रकार उन्होंने इन चारों सिद्धांतों मे से ध्वनि को प्रमुख स्थान दिया, इसे ही काव्य की आत्मा मानते हुए काव्यशास्त्र को नई दिशा की ओर मोड़ दिया। इनके बाद कुछ आचार्यों द्वारा ध्वनि-सिद्धांत को अस्वीकृत तो किया गया, पर अधिकतर आचार्यों ने इसे ही स्वीकार किया, और ध्वनि-विरोधी आचार्यों की आवाज़ दब गयी। इस आधार पर हम भारतीय काव्यशास्त्र के सिद्धांतों को कालक्रमानुसार इस प्रकार विभक्त कर सकते हैं :

1. ध्वनि-पूर्ववर्ती सिद्धांत - रस, अलंकार और रीति,
2. ध्वनि-सिद्धांत,
3. ध्वनि-परवर्ती सिद्धांत-वक्रोक्ति आदि ध्वनि-विरोधी सिद्धांत तथा औचित्य-सिद्धांत।

आनंदवर्धन को ध्वनि-सिद्धांत का प्रवर्तक माना जाता है, पर उन्होंने अपने ग्रंथ 'ध्वन्यालोक' मे अनेक बार संकेत किया है कि उनसे पूर्ववर्ती एवं उनके समकालीन आचार्यों ने ध्वनि और इसके भेदों का निरूपण किया है।[1] पंडित गोष्ठियों में तो इस सिद्धांत पर चर्चा अवश्य होती होगी। यद्यपि इस पर 'ध्वन्यालोक' को छोड़ कोई अन्य ग्रंथ उपलब्ध नहीं है। इस तथ्य का संकेत 'ध्वन्यालोक' की 'लोचन' नामक टीका के कर्ता अभिनवगुप्त ने किया है।[2]

ध्वनि-सिद्धांत की आवश्यकता

आप ऊपर पढ़ चुके हैं कि आनंदवर्धन से पूर्व काव्यशास्त्र के अंतर्गत रस, अलंकार और रीति नामक तीन सिद्धांत प्रतिपादित हो चुके थे। इनमें से अलंकार और रीति-तत्व काव्य के प्रायः बाह्य रूप तक सीमित थे। रस-तत्व निःसंदेह काव्य के आंतरिक रूप से संबद्ध था, और नाटक तथा प्रबंध-काव्य (महाकाव्य, खण्डकाव्य) पर पूर्णतः घटित हो जाता था, अनेक मुक्तक रचनाओं पर भी इसकी प्रक्रिया घटित हो सकती थी, पर फिर भी, ऐसी अनेक मुक्तक रचनाओं को, जो विभावादि-सामग्री से प्रायः शून्य होते हुए भी, चमत्कारपूर्ण थीं, रसवाद के आवेष्टन में ला सकना कठिन नहीं, असंभव था क्योंकि रस अपनी विशिष्ट शास्त्र-प्रक्रिया में परिबद्ध है, उसकी सीमा विभाव आदि सामग्री तक सीमित है। आनंदवर्धन ने उक्त तीनों सिद्धांतों - रस, अलंकार और रीति सिद्धांतों - की इन त्रुटियों को पहचाना और शब्द की तीसरी शक्ति व्यंजना से सम्बद्ध ध्वनि (व्यंग्यार्थ) का प्रवर्तन किया, जो आंतरिक तत्व भी है और व्यापक तत्व भी।

काव्यशास्त्र में 'ध्वनि' शब्द के विभिन्न प्रयोग

'ध्वनि' शब्द का प्रयोग काव्यशास्त्र में पाँच भिन्न-भिन्न अर्थ में मिलता है - (1) व्यंजना शब्द शक्ति, (2) व्यंजक शब्द, (3) व्यंजक अर्थ, (4) व्यंग्यार्थ; और (5) व्यंग्यार्थ-प्रधान काव्य। इस प्रकरण का प्रतिपाद्य विषय 'व्यंग्यार्थ' और 'व्यंग्यार्थ-प्रधान काव्य' है। इन पाँचों शब्दों के अर्थ आप आगे यथास्थान जान जाएँगे।

ध्वनि-सिद्धांत का स्रोत

1. व्याकरण-शास्त्र 'ध्वनि' का स्रोत मान लिया गया है, यद्यपि व्याकरण-ग्रंथों में ध्वनि अथवा व्यंजना शब्दशक्ति से संबंधित ऐसे संकेत स्पष्ट अथवा प्रत्यक्ष रूप से प्राप्त नहीं होते, जिन्हें काव्यशास्त्र में प्रतिपादित ध्वनि का मूल संकेत माना जा सके। काव्यशास्त्र विषयक ध्वनि पर प्रायः व्याकरण 'स्फोट' का प्रभाव स्वीकार किया गया है, पर वस्तुतः यह प्रभाव प्रत्यक्ष न होकर अप्रत्यक्ष है।

   स्फोटवादियों ने ध्वनि (अर्थात् उच्चार्यमाण शब्द अथवा नाद) को व्यंजक माना है, और स्फोट को व्यंग्य माना है। किंतु इधर काव्यशास्त्रियों ने ध्वनि, व्यंजक और व्यंग्य ये शब्द लिये तो व्याकरणशास्त्र से हैं, पर इनका प्रयोग अपनी दृष्टि से विभिन्न प्रकार से किया है। इन तीनों शब्दों से क्या अभिप्रेत है - यह आप आगे पढ़ेंगे।

2. आनंदवर्धन से पूर्व अलंकारवादी आचार्यों के ग्रंथों में यद्यपि ध्वनि शब्द का स्पष्ट प्रयोग नहीं मिलता, तथापि भामह, दण्डी और उद्भट तथा रूद्रट के ग्रंथों में प्रस्तुत कतिपय अलंकारों में व्यंजना के संकेत मिल जाते हैं जैसे कि प्रतिवस्तूपमा, अपह्नुति, समासोक्ति, अर्थान्तरन्यास, पर्यायोक्त आदि अलंकार। इनमें से पर्यायोक्त अलंकार का लक्षण कीजिए -

   पर्यायोक्तं यदन्येन प्रकारेणाऽभिधीयते।
   वाच्यवाचकवृत्तिभ्यां शून्येनावगमात्मना।। -- का.अ.आ.सं. (उद्भट) 5.6

   पर्यायोक्त अलंकार उसे कहते हैं जहाँ कोई बात अन्य प्रकार से कही जाए - इस प्रकार से कही बात में शब्द वाचक नहीं कहलाता व्यंजक कहलाता है, और अर्थ वाच्य नहीं कहलाता अवगमित (व्यंग्य) कहलाता है।

संभवतः, ऐसे संकेत धीरे-धीरे विकसित होते-होते आनंदवर्धन के समय तक ध्वनि-सिद्धांत के रूप में प्रस्फुटित हो गये होंगे। इतना ही नहीं, यह सिद्धांत आनंदवर्धन के समय में इतना प्रचलित हो गया था कि इसके विरोधी भी उत्पन्न हो गये थे।

---

[1] (क) काव्यस्यात्मा ध्वनिरिति बुधैर्यः समाम्नातपूर्वः (ध्वन्या. 1.1)
(ख) विमतिविषयो य आसीन्मनीषिणां सततमविदितसतत्वः।
ध्वनिसंज्ञितः प्रकारः काव्यस्य व्यंजितः सोऽयम्।। (ध्वन्या. 3.34)

[2] विनाऽपि विशिष्टपुस्तकेषु विनिवेशनाद इत्यभिप्रायः। (ध्वन्यालोक लोचन प. 11)

इस प्रकार ध्वनि-सिद्धांत का एक स्रोत तो व्याकरण शास्त्र है, पर यह स्रोत न हाकर अप्रत्यक्ष है, और दूसरा स्रोत भारतीय काव्यशास्त्र का 'अलंकारसिद्धांत' है जो कि प्रत्यक्ष है।

ध्वनि (व्यंग्यार्थ) का स्वरूप

आनंदवर्धन ने ध्वनि का स्वरूप इस प्रकार प्रस्तुत किया है- 'जहाँ' वाच्य (अर्थ) एवं वाचक (शब्द) अपने-अपने अस्तित्व को गौण बनाकर जिस विशिष्ट अर्थ को प्रकट करते हैं वह अर्थ 'ध्वनि' कहलाता है :

यत्रार्थः शब्दो वा तमर्थमुपसर्जनीकृतस्वार्थौ।
व्यक्तः काव्यविशेषः स ध्वनिरिति सूरिभिः कथितः।। (ध्वन्या0 1.13)

आनंदवर्धन ने ध्वनि के स्वरूप को सुलझाने क लिए कतिपय उदाहरण प्रस्तुत किये हैं -

क) जिस प्रकार किसी अंगना के सुंदर अवयव और उनसे फूटता हुआ लावण्य परस्पर भिन्न-भिन्न पदार्थ है, उसी प्रकार महाकवियों की वाणी में प्रसिद्ध अवयव (अर्थात् वाचक शब्द और वाच्य अर्थ) और उनसे अभिव्यक्त प्रतीयमान अर्थ भी परस्पर भिन्न-भिन्न होते हैं -

प्रतीयमानं पुनरन्यदेव वस्त्वस्ति वाणीषु महाकवीनाम्।
यत तत् प्रसिद्धावयवातिरिक्तं विभाति लावण्यमिवांगनासु।। (ध्वन्या0 1.4)

ख) जिस प्रकार दीपशिखा और उससे निःसृत प्रकाश अलग-अलग पदार्थ है, उसी प्रकार 'वाच्यार्थ' और उससे व्यंजना शक्ति के द्वारा अभिव्यक्त 'व्यंग्यार्थ' अलग-अलग तत्व है -

आलोकार्थी यथा दीपशिखायां यत्नवान् जनः।
तदुपायतया तद्वद् अर्थे वाच्ये तदादृतः।। (ध्वन्या0, 1.9)

ग) ध्वन्यर्थ तो सुंदरियों की लज्जा की भाँति (एक आंतरिक एवं विभिन्न तत्व) है -

मुख्या महाकविगिरामलंकृतिभृतामपि।
प्रतीयमानच्छायेषा भूषा लज्जेव योषिताम्।। (ध्वन्या0, 3.38)

उक्त उदाहरण का निष्कर्ष यह है कि -

- ध्वनि (व्यंग्यार्थ) शब्दार्थ से भिन्न तत्व है।
- ध्वनि लावण्य, प्रकाश लज्जा आदि के समान एक आंतरिक तत्व है।
- शब्दार्थ आधार एवं साधन है और ध्वनि आधेय एवं साध्य। जिस प्रकार लावण्य के लिए अंगना के अंगों की, अथवा प्रकाश के लिए दीपशिखा की अपेक्षा रहती है उसी प्रकार ध्वनि के लिए शब्दार्थ (वाचक शब्द और वाच्य अर्थ) की अपेक्षा रहती है।

संक्षेप में कहें तो **वाच्यार्थ से भिन्न अर्थ 'व्यंग्यार्थ' अथवा 'ध्वनि' कहलाता है**, और इसी व्यंग्यार्थ (ध्वनि) को आनंदवर्धन ने, और उनके अनुकरण में मम्मट और जगन्नाथ ने काव्य की आत्मा माना है।

इसी प्रसंग में **वाच्यार्थ और व्यंग्यार्थ** में अंतर भी जान लेना चाहिए। यह अंतर निम्नोक्त आठ तत्वों पर आधारित है -

1. **निमित्त कारण** : वाच्यार्थ का निमित्त कारण शब्द है, पर व्यंग्यार्थ का प्रतिभा-नैर्मल्य। इसी कारण वाच्यार्थ का ज्ञाता बोद्धा कहलाता है और व्यंग्यार्थ का ज्ञाता सहृदय।
2. **आश्रय** : वाच्यार्थ का आश्रय शब्द है, पर व्यंग्यार्थ का आश्रय शब्द के अतिरिक्त शब्द का एक देश, वर्ण अथवा वर्ण-संघटना आदि है, और कभी-कभी चेष्टा आदि भी।
3. **कार्य** : वाच्यार्थ का कार्य वस्तुमात्र की प्रतीति कराना है, पर व्यंग्यार्थ का कार्य चमत्कार की प्रतीति कराना है।
4. **काल** : वाच्यार्थ का बोध पहले होता है, और व्यंग्यार्थ की प्रतीति इसके बाद। यह अलग प्रश्न है कि यह प्रतीति इतनी त्वरित होती है कि दानों अर्थों में पूर्व और पर का क्रम लक्षित नहीं हो पाता।

5एवं 6. **बोद्धा और संख्या** : एक वाच्य का वाच्यार्थ सब बोद्धाओं के लिए एक समान होता है, पर व्यंग्यार्थ भिन्न-भिन्न बोद्धाओं के लिए अलग-अलग। उदाहरणार्थ, 'सूर्य अस्त हो गया' इस वाक्य का वाच्यार्थ छात्र, दुकानदार, भगवद्भक्त, यात्री आदि के लिए एक है, पर व्यंग्यार्थ इन सबके लिए अलग-अलग होने के कारण ये अनेक हैं।

7. **विषय** : कहीं वाच्यार्थ का विषय एक व्यक्ति होता है, और व्यंग्यार्थ का विषय दूसरा व्यक्ति।

8. **स्वरूप** : कहीं वाच्यार्थ विधि-रूप होता है तो व्यंग्यार्थ निषध-रूप, कहीं वाच्याथ संशयात्मक होता है तो व्यंग्यार्थ निश्चयात्मक, कहीं वाच्यार्थ निंदापरक होता है तो व्यंग्यार्थ स्तुतिपरक। इसी प्रकार कहीं स्थिति इनसे विपरीत भी होती है।

6.2.1 ध्वनि के तारतम्य के आधार पर काव्य के तीन भेद

आनंदवर्धन स्वीकार करते हैं कि काव्य में ध्वनि (व्यंग्यार्थ) तत्व अनिवार्य रूप से अनुस्यूत रहता है। इसके बिना कोई सार्थक कथन या तो लोकवार्ता कहलाता है[1] या शास्त्रकथन कहलाता है।[2] निष्कर्षतः, कोई ऐसा काव्य नहीं जिसमें ध्वनि-तत्व विद्यमान न हो, पर प्रत्येक काव्य में यह तत्व एक-समान नहीं रहता। इसके तारतम्य के अनुसार आनंदवर्धन ने काव्य को तीन प्रकारों से वर्गीकृत किया है - ध्वनि-काव्य, गुणीभूतव्यंग्य-काव्य, और चित्र-काव्य। इन्हें मम्मट ने क्रमशः उत्तम, मध्यम और अवर काव्य कहा है। इनमें से प्रथम दो प्रकारों में ध्वनि स्फुट-रूप से अनुस्यूत रहती है, और चित्रकाव्य में अस्फुट रूप से। अब इनके लक्षण लीजिएः

1. **ध्वनि-काव्य** : जहाँ व्यंग्यार्थ का चमत्कार वाच्यार्थ की अपेक्षा अथवा उसके चमत्कार की अपेक्षा प्रधान अर्थात् अतिशय हो।

2. **गुणीभूतव्यंग्य-काव्य** : जहाँ व्यंग्यार्थ का चमत्कार वाच्यार्थ की अपेक्षा अथवा उसके चमत्कार की अपेक्षा गौण अर्थात् न्यून अथवा उसके समान हो।

3. **चित्र-काव्य** : जहाँ व्यंग्यार्थ अस्फुट रूप में विद्यमान हो। इसका तात्पर्य यह है कि जिस काव्य में गुणों की वर्ण-व्यंजकता और शब्दगत अथवा अर्थगत अलंकारों का चमत्कार इतना अधिक हो कि व्यंग्यार्थ अस्फुट बन जाए वहाँ चित्र-काव्य माना जाता है। अभिप्राय यह है कि चित्र काव्य में व्यंग्यार्थ का नितांत अभाव नहीं रहता, अपितु यह अस्फुट रह जाता है।

यहाँ यह ज्ञातव्य है कि 'चित्रकाव्य' को चित्रालंकार (खड्गबंध, पझबंध, आदि) नहीं समझना चाहिए। चित्रालंकार तो एक शब्दालंकार है।

इस प्रकार आनंदवर्धन ने ध्वनि-तत्व के तारतम्य के आधार पर समग्र काव्य को तीन प्रकारों में विभक्त कर दिया है, किंतु इसका यह तात्पर्य कदापि नहीं कि काव्य-चमत्कार की दृष्टि से पहले प्रकार के उदाहरण शेष दो प्रकार के उदाहरणों की अपेक्षा सदा उत्कृष्ट कोटि के होंगे, और दूसरे प्रकार के उदाहरण सदा मध्यम कोटि तथा तीसरे प्रकार के उदाहरण सदा अवर कोटि के ही होंगे। यह ते केवल एक शास्त्रीय परिधि मात्र (academic decorum) है।

1. ध्वनिकाव्य के भेद

आनंदवर्धन द्वारा प्रस्तुत ध्वनि के भेदोपभेदों को आगे बढ़ाते हुए मम्मट ने ध्वनि-काव्य के पहले 51 भेद माने जो परस्पर-संयोजन द्वारा कई सहस्र तक जा पहुँचते हैं, किंतु उक्त 51 में से ये पाँच भेद ही प्रमुख हैं - (1) अर्थान्तरसंक्रमितवाच्यध्वनि, (2) अत्यन्ततिरस्कृतवाच्यध्वनि, (3) वस्तुध्वनि, (4) अलंकारध्वनि, (5) रसध्वनि।

कुछ विद्वानों के अनुसार इनमें से प्रथम दो भी वस्तुतः वस्तु-ध्वनि के ही रूपांतर मात्र हैं। अतः ये विद्वान् ध्वनि के वस्तुध्वनि, अलंकार-ध्वनि तथा रसध्वनि - ये तीन भेद ही स्वीकार करते हैं। परंतु अन्य विद्वानों का मानना है कि पहले दो भेदों को वस्तुध्वनि में समाविष्ट कर देना उचित नहीं है।

क) **अर्थान्तरसंक्रमितवाच्यध्वनि** : यह ध्वनि वहाँ मानी जाती है जहाँ वाच्यार्थ अन्य (व्यंग्य) अर्थ में संक्रमित हो जाता है। यथा -

सेना छिन्न, प्रयत्न भिन्न कर पा मुराद मनचाही।
कैसे पूजूँ गुमराही को, मैं हूँ एक सिपाही।। (भारतीय आत्मा)

'सिपाही' शब्द का वाच्यार्थ है योद्धा। किंतु यहाँ वह वाच्यार्थ व्यंग्यार्थ में संक्रमित हो गया है। 'सिपाही' शब्द का व्यंग्यार्थ है - अपने प्राणों का बलिदान करने वाला, साहसी, देश का उन्नायक, आदि।

---

[1] जैसे 'बाज़ार से अपनी पुस्तक के साथ मेरे लिए भी पुस्तक खरीदते लाना' आदि वाक्य।

[2] जैसे 2+2=4 होते हैं आदि वाक्य।

ख) **अत्यन्ततिरस्कृतवाच्यध्वनि** : यह ध्वनि वहाँ मानी जाती है जहाँ वाच्यार्थ व्यंग्यार्थ के द्योतनार्थ अत्यंत तिरस्कृत हो जाता है। यथा -

नीलोत्पल के बीच समाये मोती से आँसू के बूंद।
हृदय-सुधानिधि से निकले हो तब न तुम्हें पहचान सके।। (प्रसाद)

यहाँ 'नीलोत्पल' शब्द का वाच्यार्थ है कमल, और व्यंग्यार्थ है 'नेत्र'। यहाँ वाच्यार्थ नितांत अभीष्ट नहीं है, वह व्यंग्यार्थ के द्योतनार्थ अत्यंत तिरस्कृत हो गया है।

ग) **वस्तु-ध्वनि** : जहाँ व्यंग्यार्थ किसी वस्तु[1] के रूप में प्रतीत होता है वहाँ वस्तु-ध्वनि मानी जाती है। यथा -

वह इष्टदेव के मंदिर की पूजा सी,
वह दीपशिखा सी शांत, भाव में लीन,
वह क्रूर काल-ताण्डव की स्मृति रेखा सी,
वह टूटे तरू की छुटी लता सी दीन,
दलित भारत की ही विधवा है। (निराला)

इस पद्य में भारत की विधवा को 'पूजा', 'दीपशिखा', 'क्रूरकाल ताण्डव की स्मृतिरेखा' और 'छुटी लता' से उपमित किया गया है। इन उपमानों से क्रमशः भारत की विधवा की पवित्रता, तेजस्विता, दयनीय दशा तथा असहायावस्था द्योतित होती है। यहाँ 'पवित्रता' आदि 'वस्तु' हैं, जो कि व्यंग्य हैं।

घ) **अलंकार ध्वनि** : जहाँ व्यंग्यार्थ किसी अलंकार के रूप में प्रतीत होता है, वहाँ अलंकार-ध्वनि होती है। यथा -

दियो अरघ नीचे चलो संकट-भानै जाइ।
सुचती ह्वै औरै सबै ससिहिं विलोकै आइ।। (बिहारी)

यहाँ रूपक अलंकार व्यंग्य है, क्योंकि नायिका के मुख पर चन्द्रमा का आरोप रूपक अलंकार के समान वाच्य रूप में न किया जाकर व्यंग्य रूप में किया गया है।

ङ) **रस-ध्वनि** : जहाँ व्यंग्यार्थ विभाव, अनुभाव और संचारी भाव के संयोग पर आधारित होता है वहाँ रस-ध्वनि मानी जाती है।

काव्यशास्त्र में रस से तात्पर्य है - रसादि, अर्थात् रस, भाव, रसाभास, भावाभास, भावोदय, भावसंधि, भावशबलता - ये आठ काव्य-तत्व।

(i) **रस** : विभाव आदि के संयोग से स्थायी भाव की अभिव्यक्ति रस कहलाती है। जैसे-

एक पल मेरी प्रिया के दृग-पलक
थे उठे ऊपर सहज नीचे गिरे।
चपलता ने इस विकंपित पुलक से
दृढ़ किया मानो प्रणय-संबंध था।। (पंत)

यहाँ आलम्बन विभाव नायक और नायिका हैं। उद्दीपन विभाव है - नायिका के दृगपलकों का ऊपर-नीचे गिरना। अनुभाव है - नायक का विकम्पित पुलक। संचारी भाव हैं - लज्जा, चपलता आदि। इस संपूर्ण काव्य-सामग्री से ध्वनि यह निकलती है कि दोनों में अतिशय प्रणयभाव है - इस प्रतीति के पश्चात् सहृदय को काव्यानंद प्राप्त होता है। उक्त सामग्री के कारण यहाँ 'रस-ध्वनि' है - इसे संक्षेप में रस कहते हैं। यह पद्य शृंगार रस का उदाहरण है। एक उदाहरण और लीजिए-

आए विदेश से प्रानप्रिया, मतिराम अनंद बढ़ाये अलेखै।
लोगन सो मिलि आँगन बैठि, घरी-सी-घटी सिगरी घर पैखै।।
भीतर मौन के द्वार खरी, सुकुमारी तिया तन काम विसेखै।
घूँघट को पट ओट दियै, पट-ओट किए पिय को मुँह देखै।।

पति परदेस से घर आया हुआ है। नायिका घूँघट से अपने मुँह को छिपा कर कपड़े की ओट में से उसका मुँह देख रही है। नायिका के आचरण में नायक के प्रति हृदय का प्रेमभाव झलक रहा है। यह शृंगार रस (रस-ध्वनि) का उदाहरण है। यहाँ व्यंग्यार्थ यह है कि दोनों में

[1] यहाँ वस्तु से तात्पर्य है कोई भाव (Concept)

अतिशय प्रेम है। इस प्रतीति के पश्चात् ही सहृदय को काव्यानंद की प्राप्ति रस की अभिव्यक्ति होती है।

(ii) **भाव** : भाव वहाँ माना जाता है जहाँ (क) निर्वेद, ग्लानि, शंका आदि संचारि भाव प्रधानता से प्रतीयमान (व्यंजित) हों, (ख) देवता, राजा, राष्ट्र, गुरु आदि के प्रति रति प्रधानता से प्रतीयमान हो; तथा (ग) विभाव आदि के सम्यक् निर्वहण के अभाव में रति, हास, उत्साह आदि स्थायी भाव उद्‌बुद्ध-मात्र रह गए हों।

(1) प्रधानता से व्यंजित अवहित्था (लज्जा) नाम संचारिभाव -

अनुरूप वर है शिव इसका
देवर्षि के कहते ही इतना,
बैठी पास पिता के उमा,
लगी गिनने कमल के पत्तों को वह
मानो खेल-खेल में, झुके-झुके आनन से।

(2) मातृभूमि (राष्ट्र) के प्रति व्यंजित रतिभाव -

निर्मल तेरा नीर अमृत के सम उत्तम है,
षड्ऋतुओं का विविध-दृश्य-युत अद्‌भुत क्रम है,
हरियाली का फर्श नहीं, मखमल से कम है।
शुचि सुधा सींचता रात में तुझ पर चन्द्र-प्रकाश है।
हे मातृभूमि! दिन में तरणि करता तम का नाश है।

(मैथिलीशरण गुप्त : पद्म प्रबंध)

(3) केवल उद्‌बुद्ध-मात्र उत्साह नामक स्थायिभाव -

सहे वार पर वार अंत तक
लड़ी वीर बाला सी।
आहुति-सी गिर चढ़ी चिता पर,
चमक उठी ज्वाला-सी। (सुभद्रा कुमारी चौहान)

(iii)एवं (iv) **रसाभास और भावाभास** : जहाँ रस अथवा भाव की व्यंजना में किसी कारणवश अनौचित्य झलकने लगे, वहाँ क्रमशः रसाभास अथवा भावाभास माना जाता है। उदाहरण के तौर पर (1) नायिका का उपनायक-विषयक अथवा बहुपुरुष-विषयक प्रेम (2) एक नर का, अथवा नरों का, एक समय पर अथवा अनेक समयों पर बहुनारी-विषयक प्रेम (3) उभयनिष्ठ रति न होना, अर्थात् नायक अथवा नायिका में से केवल एक का दूसरे के प्रति प्रेम (4) श्रेष्ठ का नीच के प्रति अथवा नीच का श्रेष्ठ के प्रति प्रेम-वर्णन (5) पशु-पक्षी विषयक प्रेम आदि। पशु-पक्षी विषयक प्रेम का उदाहरण देखिए -

शाखाओं पर जिनकी लटके वल्कल
ऐसे वृक्ष बनाने हैं -
नीचे एक मृगी, मृग के सींगों से
निज बाँयाँ नयन खुजाती हो।

(कालिदास : अभिज्ञान शाकुंतल 6.17 का हिंदी रूपांतर)

यहाँ यह ज्ञातव्य है कि स्थायिभाव की अनौचित्यपूर्ण अभिव्यक्ति में **रसाभास** माना जाएगा और संचारिभाव की अनौचित्यपूर्ण अभिव्यक्ति में **भावाभास**।

(v), (vi) एवं (vii) **भावोदय, भावसंधि और भावशबलता** : जहाँ एक भाव का उदय (वर्णन) हो वहाँ **भावोदय** माना जाता है, जहाँ दो भावों का वर्णन हो वहाँ **भावसंधि** और जहाँ दो से अधिक भावों का वर्णन हो वहाँ **भावशबलता** मानी जाती है।

(viii) **भादशांति** : जहाँ एक भाव उदित होकर शांत हो जाए।

यहाँ वह ज्ञातव्य है कि रसादि (रस, भाव आदि आठों) ध्वनि (व्यंग्यार्थ) पर ही आश्रित रहते हैं न कि वाच्यार्थ पर। उदाहरण के तौर पर -

- आह कितना सकरुण मुख था, आर्द्र सरोज अरुण मुख था।
- कौशल्या क्या करती थी, कुछ-कुछ धीरज धरती थी।

ऐसे स्थलों में 'करुण', 'धीरज' शब्दों के प्रयोग कर देने पर भी करुण रस की अभिव्यक्ति नहीं होती। अतः रसादि को ध्वनि (व्यंग्यार्थ) पर आश्रित माना गया है न कि वाच्यार्थ पर। इसी कारण आनंदवर्धन ने रसादि को ध्वनि का ही एक भेद माना है।

रस-ध्वनि (रसादि-ध्वनि) को असंलक्ष्यक्रम-व्यंग्य ध्वनि भी कहते हैं क्योंकि अन्य ध्वनि-भेदों की तुलना में इसमें वाच्यार्थ के अनंतर व्यंग्यार्थ की प्रतीति इतनी त्वरित होती है कि लक्षित नहीं होती।

2. गुणीभूतव्यंग्य-काव्य : लक्षण तथा भेद

गुणीभूतव्यंग्य-काव्य वहाँ माना जाता है जहाँ व्यंग्यार्थ वाच्यार्थ की अपेक्षा गौण (अप्रधान) अर्थात् न्यून अथवा समान रूप से चमत्कारक हो। यह गौणतः आठ कारणों से संभव है, अतः गुणीभूतव्यंग्य-काव्य के ये प्रमुख आठ भेद बताये गये हैं: (1) अगूढ़-व्यंग्य, (2) अपरांग-व्यंग्य, (3) वाच्यसिद्ध्यंग-व्यंग्य, (4) अस्फुट व्यंग्य, (5) संदिग्ध-प्राधान्य-व्यंग्य, (6) तुल्य-प्राधान्य-व्यंग्य (7). काक्वाक्षिप्त-व्यंग्य, (8) असुंदर-व्यंग्य।

क) **अगूढ़-व्यंग्य** : जहाँ व्यंग्यार्थ गूढ़ न हो, अपितु स्पष्ट हो। जैसे -

पुत्रवती युवती जग सोई।
रामभगत जाकर सुत होई।। (तुलसी)

इस पद्यांश का वाच्यार्थ स्पष्ट है। व्यंग्यार्थ यह है कि जिनके पुत्र रामभक्त हैं, केवल वही माताएँ प्रशंसनीय हैं, शेष नहीं। यह व्यंग्य वाच्यार्थ के समान अगूढ़-स्पष्ट है। अतः यहाँ अगूढ गुणीभूतव्यंग्य है। वस्तुतः व्यंग्य वाच्यार्थ की अपेक्षा गूढ़ होना चाहिए, इस स्थिति में ध्वनि-काव्य माना जाता है, अन्यथा गुणीभूतव्यंग्य-काव्य।

ख) **अपरांग-व्यंग्य** : जहाँ एक व्यंग्य है कि रस, स्थायी भाव, संचारी भाव, अनुभाव आदि में से कोई एक किसी दूसरे का अंग बनकर उसका उत्कर्ष करे और साथ् ही, जिसका अंग बने उस अंगी की अपेक्षा अधिक यह चमत्कारपूर्ण हो।

(i) रस की अंगता को रसवत् अलंकार कहते हैं।
(ii) भाव की अंगता की प्रेयस्वत् अलंकार।
(iii) रसाभास और भावाभास की अंगता को ऊर्जस्वि अलंकार।
(iv) भावशांति की अंगता को समाहित अलंकार।
(v) भावोदय, भावसंधि और भवशबलता की अंगता क्रमशः भावोदय, भावसंधि और भावशबलता अलंकार कहते हैं।

इन अंगभूतों को अलंकार इसलिए कहा जाता है कि ये अपने अंगीभूतों को अलंकृत करते हैं - अंग अलांकर है और अंगी उनके द्वारा अलंकरणीय। उदाहरण लीजिए -

सपनो है संसार यह, रहस न जाने कोय।
मिलि पिय मनमानी करौ, काल कहाँ धौं होय।।

'मिलि पिय मनमानी करो' इस पद्यांश में शृंगार रस की सामग्री है और शेष अंश में शांत रस की। इस पद्य में शांत रस अंग अर्थात् पोषक है और शृंगार रस उससे पेषित होने के कारण अंगी है, किंतु शांत रस (अंग) शृंगार रस (अंगी) की अपेक्षा अधिक चमत्कारपूर्ण बन गया है। अतः अपरांग है। यही उदारहण रसवत् अलंकार का भी है।

इसी प्रकार जिन पद्यों में महादेव-पार्वती, आदि के प्रति भक्ति की व्यंजना करते हुए भी कवि उनका रति-संबंध अपेक्षाकृत अधिक चमत्कारपूर्ण रूप में वर्णित करता है वहाँ अपरांग गुणीभूतव्यंग्य होता है।

ग) **वाच्यसिद्ध्यंग-व्यंग्य** : जहाँ व्यंग्यार्थ वाच्यार्थ की सिद्धि के लिए उसका अंग बन जाए।

वसुधा पर ओस बने बिखरे,
हिमकण आँसू जो क्षोभ भरे -
ऊषा बटोरती अरूण गात। (प्रसाद)

उषाकाल का वर्णन यहाँ प्रस्तुत है। वाच्यार्थ है - पृथ्वी पर आँसू के रूप में बिखरे ओस-कणों को ऊषा बटोर लेती है। व्यंग्यार्थ है जीवन का शुभ प्रभात व्यक्ति के पूर्ण दुखों को मिटा देता है। यह व्यंग्यार्थ उक्त वाच्यार्थ की सिद्धि के लिए अंग (पोषक) बन गया है। इसके जानने के पश्चात् उषाकाल द्वारा ओंस के बटोरने का विषय चमत्कारपूर्ण हो उठता है।

घ) **अस्फुट-व्यंग्य** : जहाँ व्यंग्य स्फुट न हो, अर्थात् बहुत देर के बाद समझ में आए-

खिले नव पुष्प जग प्रथम सुगंध के,
प्रथम वसंत में, गुच्छ-गुच्छ। (निराला)

जगत् में वसंत के आगमन पर नवीन तथा सुगंधित पुष्पों के गुच्छ-समूह खिल उठे - यह उक्त पद्य का वाच्यार्थ है। व्यंग्यार्थ यह है कि इस नायिका में यौवन के पदार्पण करते ही उसके मन में अनेक लालसाएँ उदित हो उठीं। यह व्यंग्य तुरंत समझ नहीं आता, बहुत देर तक सोचने के बाद कठिनाई से समझ में आता है, अतः अस्फुट है।

ङ.) **संदिग्ध-प्राधान्य-व्यंग्य** : यहाँ वाच्यार्थ और व्यंग्यार्थ में किस की प्रधानता है - यह संदेह बना रहे।

थके नयन रघुपति छवि देखी। पलकनहूँ परिहरी निमेखी।।
अधिक सनेह देह भई भोरी। सरद ससिहिं जनु चितव चकोरी।। (तुलसी)

जैसे चकोरी चन्द्रमा को देखती रह जाती है, वैसे सीता भी राम को देखती रह गयी - यह वाच्यार्थ है। अधिक स्नेह के कारण सीता की देह भोरी (स्तब्ध) रह गयी - इससे जड़ता नामक संचारी भाव व्यंजित होता है। उक्त वाच्यार्थ और व्यंग्यार्थ में से कौन-सा अर्थ अधिक चमत्कारपूर्ण है - इसमें संदेह है।

च) **तुल्य-प्राधान्य-व्यंग्य** : जहाँ वाच्यार्थ और व्यंग्यार्थ का चमत्कार लगभग एक-समान प्रतीत हो।

पश्चिम जलधि में
मेरी लहरीलीं अलकावली समान
लहरें उठती थीं मानो चूमने मुझ को
और साँस लेता था समीर मुझे छूकर। (प्रसाद : लहर, 'प्रलय की छाया')

यहाँ वाच्यार्थ है - कमला की लंबी-लंबी 'केशराशि' का, एवं 'प्रेमोच्छ्वासों' का, क्रमशः 'जलधि की तरंगों' और 'समीर' के उपमान द्वारा वर्णन, एवं व्यंग्यार्थ है - कमला का अपने रूप-सौंदर्य पर स्वयं मुग्ध होना। वस्तुतः ये दोनों अर्थ ही तुल्य-रूप से चमत्कारपूर्ण प्रतीत होते हैं।

छ) **काक्वाक्षिप्त-व्यंग्य** : जहाँ व्यंग्यार्थ काकु द्वारा आक्षिप्त (स्वतः गृहीत) हो। काकु कहते हैं - भिन्न कण्ठ-ध्वनि को -

अरावली शृंग सा समुन्नत सिर किस का? (प्रसाद)
वे कुछ दिन कितने सुंदर थे? (प्रसाद)
कितना सोहाग था, कैसा अनुराग था? (प्रसाद)

आदि प्रश्नवाचक कथनों से जो व्यंग्यार्थ प्रतीत होता है वह काक्वाक्षिप्त व्यंग्य कहलाता है।

ज) **असुंदर-व्यंग्य** : जहाँ वाच्यार्थ की अपेक्षा व्यंग्यार्थ सुंदर न हो।

निज अलकों के अंधकार में तुम कैसे छिप पाओगे?

'केश-पाश के अंधकार में न छिप सकना' इस वाच्यार्थ का व्यंग्यार्थ है कि मैं तुम्हें खोज लूँगा। पर यह व्यंग्यार्थ चमत्कारपूर्ण नहीं है - उधर वाच्यार्थ अत्यंत चमत्कारपूर्ण है।

3. चित्र-काव्य

चित्र-काव्य से अभिप्राय है जहाँ शब्दालंकार अथवा अर्थालंकार अथवा गुणों की वर्ण-व्यंजकता के कारण व्यंग्यार्थ अस्फुट बनकर रह जाए - उपर्युक्त तीनों में से किसी एक के चमत्कार के आधिक्य के कारण तिरोभूत हो जाए - दबकर रह जाए। उदाहरण लीजिए -

प्रति पल परिवर्तित-व्यूह, भेद-कौशल समूह
राक्षस- विरूद्ध प्रत्यूह, क्रुद-कपि-विषम-हूह ... (निराला : राम की शक्ति पूजा)

इस पद्य में कवि की विवक्षा अनुप्रासालंकार-जन्य चमत्कार द्योतन में ही अधिक है। अतः यह शब्द-चित्रकाव्य (शब्दालंकार) का उदाहरण है -

उदित उदय गिरि मंच पर, रघुवर बाल पतंग।
विकसे संत सरोज सब, हरषे लोचन भृंग।।

इस पद्य में रूपक अलंकार से जन्य वाच्यार्थ ही प्रधान है, श्री राम का सौंदर्य-रूप व्यंग्य अस्फुट (नगण्य) मात्र रह गया है।

क्षमा करो इस भाँति न तुम तज दो मुझे
स्वर्ग नहीं है राम चरण रज दो मुझे (साकेत)

इस पद्य में प्रसाद गुण के वर्णों की व्यंजकता के कारण ही काव्य-चमत्कार है। केवट की राम के प्रति भक्ति-रूप व्यंग्य अस्फुट बनकर रह गया है । किंतु इनके विपरीत एक उदाहरण और लीजिए-

अमी हलाहल मदभरे स्वेत स्याम रतनार।
जियत मरत झुकि झुकि परत जेहि चितवत इक बार।।

इस पद्य में यद्यपि कवि को नेत्रों के अद्‌भुत सौंदर्य का वर्णन करना अभीष्ट है, न कि यथा संख्य अलंकार का चमत्कार दिखाना, पर इस अलंकार का चमत्कार वर्ण्य-विषय की अभिवृद्धि अवश्य कर रहा है। अतः, इस प्रकार के स्थल 'चित्रकाव्य' के अंतर्गत नहीं आते।

इस प्रकार आनंदवर्धन ने ध्वनि तत्व के तारतम्य के आधार पर समग्र काव्य को तीन प्रकारों में विभक्त कर दिया है, किंतु इसका यह तात्पर्य कदाचित नहीं कि काव्य-चमत्कार की दृष्टि से पहले प्रकार के उदाहरण शेष दो प्रकार के उदाहरणों की अपेक्षा सदा उत्कृष्ट कोटि के होंगे, अथवा तीसरे प्रकार के उदाहरण शेष दो प्रकारों की अपेक्षा सदा हीन कोटि के होंगे, और दूसरे प्रकार के उदाहरण सदा मध्यम कोटि के ही होंगे। यह तो केवल एक शास्त्रीय व्यवस्था मात्र है।

6.2.2 ध्वनि तत्व तथा अन्य काव्य तत्व

ध्वनि-प्रवर्तक आनंदवर्धन से पूर्व 'अलंकार' को काव्य का सर्वस्व और 'रीति' को काव्य की आत्मा के रूप में घोषित किया गया था, और इसके अतिरिक्त रस-तत्व भी प्रतिपादित था। आगे चलकर वक्रोक्ति-सिद्धांत निरूपित हुआ। इन चारों काव्य-तत्वों का ध्वनि के प्रति अथवा ध्वनि का इनके प्रति क्या दृष्टिकोण रहा - यहाँ इसका दिग्दर्शन प्रस्तुत है :

1. **अलंकार और ध्वनि** : अलंकारवादी आचार्यों को काव्य के सभी तत्वों का अंतर्भाव अलंकार में करना अभीष्ट था। उन्होंने यद्यपि 'ध्वनि' शब्द का प्रयोग तो नहीं किया, किंतु प्रतिवस्तूपमा, पर्यायोक्त आदि अलंकारों के लक्षणों से प्रतीत होता है कि वे ध्वनि-तत्व से परिचित थे, और अपने दृष्टिकोण से उन्हें ध्वनि का अंतर्भाव विभिन्न अलंकारों में करना अभीष्ट होगा। किंतु इधर, आनंदवर्धन को अलंकारवादियों का यह दृष्टिकोण अभीष्ट नहीं हुआ। उन्होंने अलंकार को 'शब्दार्थ का शोभाकारक धर्म' माना। उनके अनुसार ध्वनि महाविषयीभूत है। उसके तारतम्य के आधार पर काव्य के तीन भेदों में से 'चित्रकाव्य' के अंतर्गत अलंकार का चमत्कार समाविष्ट हो जाता है। अतः ध्वनि को अलंकार में अंतर्भूत नहीं करना चाहिए।

2. **रीति और ध्वनि** : रीतिवादी वामन के ग्रंथ में ध्वनि का साक्षात् अथवा प्रकारांतर से संकेत नहीं मिलता। इधर आनंदवर्धन ने वामन-सम्मत रीतिवाद का यद्यपि कहीं खण्डन तो नहीं किया, किंतु उनके निम्नोक्त कथन से रीति के प्रति अवहेलना अवश्य प्रकट होती है - 'ध्वनि जैसे अवर्णनीय काव्य तत्व को समझ सकने में असमर्थ लोगों द्वारा काव्यशास्त्रीय जगत में रीतियाँ चला दी गयीं।'[1] इसके अतिरिक्त उन्होंने वामन-सम्मत 'रीति' की एक विशेषता 'समस्तपदता' के आधार पर संघटना (सम्यक् घटना = रचना-शैली) का निरूपण किया, तथा इसके तीन रूप निर्धारित किए - असमासा, अल्प-समासा और दीर्घ-समासा। यही रूप आगे चलकर मम्मट और विश्वनाथ के ग्रंथों में रीति का स्वरूप तथा रीति के तीन भेद--वैदर्भी, गौडी और पांचाली का स्वरूप निर्धारित करने में सहायक हुए।

3. **रस और ध्वनि** : यद्यपि आनंदवर्धन ने रस को स्वतंत्र काव्य-तत्व स्वीकार न करके ध्वनि का एक भेद 'असंलक्ष्यक्रमव्यंग्य-ध्वनि' माना, और इसी में रस, भव आदि आठों को अंतर्भूत किया, तथापि रस की महत्ता को उन्होंने मुक्तकंठ से स्वीकार किया। उनके दृष्टिकोण से रस, जैसा कि ऊपर कह आये हैं, अपने पारिभाषिक अर्थ में, विभावादि की परिधि में सीमित है, अतः रस प्रबंध-काव्य (महाकाव्य, खण्डकाव्य आदि) तथा दृश्य-काव्य पर नःसंदेह घटित हो जाता है, अधिकतर मुक्तकों पर भी घटित हो जाता है, किंतु फिर भी, ऐसे अनेक चमत्कारपूर्ण मुक्तक शेष रह जाते हैं, जिन पर रस सुघटित नहीं होता। इसी कारण, उन्होंने ध्वनि को काव्य की आत्मा मानते हुए रसादि को उसका एक भेद स्वीकार किया। ध्वनि का फलक अति विशाल है, एवं 'रस' ध्वनि का एक भेद है।

4. **वक्रोक्ति और ध्वनि** : वक्रोक्तिवाद के प्रवर्तक कुंतक के सम्मुख आनंदवर्धन का ग्रंथ था, और वस्तुतः ध्वनि के समस्त भेदोपभेदों को 'वक्रोक्ति' में समाविष्ट करने के ही उद्देश्य से उन्होंने इसके पहले छह प्रमुख भेद और फिर इक्तालीस उपभेद किये। एक स्थान पर उन्होंने वक्रोक्ति का

---

[1] अस्फुट-स्फुरितं काव्यतत्त्वमेतद् यथोदितम्।
अशक्नुवद्भिर्व्याकर्तुं रीतयः सम्प्रवर्तिताः।। (ध्वन्यालोक 1.7)

अर्थ किया है विचित्र न्यास अर्थात् इतिवृत्तात्मक शब्द-अर्थ से भिन्न विशिष्ट ढंग का चमत्कारी प्रयोग। वक्र का अर्थ है रमणीय अर्थात् विदग्धता या रमणीयता कवि प्रतिभा जन्य होती है। मूल बात यह कि वक्रोक्ति का कवि-प्रतिभा एवं कवि-व्यापार से स्वतंत्र अस्तित्व नहीं है। कवि-व्यापार क्या है इस विषय में कुंतक मौन हैं शायद वे इसे अनिवर्चनीय मानते हैं। कुंतक की वक्रता एक विशिष्ट उक्ति तक ही सीमित न रह कर वर्ण-विन्यास से लेकर प्रबंध वक्रता तक अपनी व्याप्ति रखती है। कवि-व्यापार वक्रता के कुंतक छह भेद करते हैं और काव्य का पूरा प्रपंच इसके अंतर्गत समेट लेते हैं।

- ध्वनि नितांत आंतरिक तत्व है। यह अलंकार, रीति और वक्रोक्ति के समान अधिकांशतः बाह्यपरक नहीं है।
- इसके अतिरिक्त ध्वनि साधन है, स्वयं सिद्धि अथवा साध्य नहीं है। सिद्धि अथवा साध्य तो काव्याह्लाद, काव्यानंद अथवा रस है। अतः ध्वनि काव्य की आत्मा है।

निष्कर्ष

इस प्रकार आनंदवर्धन ने अलंकार, रीति और रस के स्थान पर ध्वनि-तत्व को अधिक महत्व दिया। ध्वनि से तात्पर्य है - वाच्यार्थ से भिन्न अर्थ। ध्वनि के तारतम्य के अनुसार काव्य के तीन प्रकार है - ध्वनि-काव्य, गुणीभूतव्यंग्य-काव्य और चित्रकाव्य। इन तीनों में समग्र काव्य समाविष्ट हो जाता है। अतः आनंदवर्धन के अनुसार ध्वनि काव्य का आंतरिक तत्व तो है ही, अनिवार्य तथा व्यापक तत्व भी है। इसलिए इसे इन्होंने काव्य की आत्मा घोषित किया। रस को उन्होंने ध्वनिकाव्य का एक भेद माना तथा अलंकार, गुण और रीति का स्वरूप पूर्ववर्ती आचार्यों के समान प्रस्तुत न कर, रस को केंद्र मानकर इन्हें नवीन रूप में प्रस्तुत किया, और इस प्रकार उन्होंने ध्वनि के माध्यम से काव्यशास्त्र को एक अभिनव दिशा की ओर उन्मुख कर दिया।

6.2.3 ध्वनि विरोधी आचार्य

अब अंत में ध्वनिविरोधी आचार्यों के सिद्धांतों की किंचित् चर्चा मात्र करें। ऐसा प्रतीत होता है कि आनंदवर्धन के समय, संभवतः इनके पूर्व भी, विद्वद्गोष्ठियों में काव्य में ध्वनि-तत्व का विरोध रहा होगा। स्वयं आनंदवर्धन ने ध्वनि-विरोधी तीन प्रकार के आचार्यों का उल्लेख किया - अभाववादी, भाक्त (लक्षणावादी) और अनिर्वचनीयतावादी।[1]

1. **अभाववादी** से आनंदवर्धन का तात्पर्य है वे आचार्य जो ध्वनि को न मानकर अलंकार और गुण (रीति) को मानते हैं अर्थात् भामह, दण्डी और उद्भट नामक अलंकारवादी आचार्य और वामन नामक रीतिवादी आचार्य। इन दोनों सिद्धांतों का उल्लेख ऊपर किया गया है और साथ ही इन पर आपको पर्याप्त सामग्री इकाई-5 के अंतर्गत भेजी गयी है जिसमें यह भी प्रस्तुत किया है आनंदवर्धन ने इन दोनों सिद्धांतों को किस आधार पर अस्वीकार कर इनके प्रति नूतन दृष्टिकोण प्रस्तुत किया।

2. **भाक्त** से आनंदवर्धन का तात्पर्य है लक्षणावादी, अर्थात् भट्ट, उद्भट आदि वे आचार्य जो ध्वनि (व्यंजना शब्दशक्ति) को न मानकर भाक्त (लक्षणा) को मानते हैं। ये व्यंग्यार्थ का अंतर्भाव लक्ष्यार्थ में करते हैं। पर आनंदवर्धन के अनुसार स्वयं लक्ष्यार्थ व्यंग्यार्थ पर आधारित होता है - वह इसके बिना संभव नहीं हो सकता। जैसे 'गंगा पर आश्रम है' इस वाक्य में गंगा शब्द का वाच्यार्थ है - 'गंगा नदी', लक्ष्यार्थ है 'गंगा-तट' पर यह लक्ष्यार्थ भी तभी संभव है जब वक्ता को गंगा शब्द से शीतलता, पवित्रता आदि व्यंग्यार्थ अभीष्ट होते हैं। अतः लक्ष्यार्थ और व्यंग्यार्थ दोनों भिन्न-भिन्न हैं - व्यंग्यार्थ को लक्ष्यार्थ में अंतर्भूत कर देना उचित नहीं है।

3. **अनिर्वचनीयतावादी** से आनंदवर्धन का तात्पर्य है वे आचार्य जो ध्वनि (व्यंग्यार्थ) को अवर्णनीय मानते हैं क्योंकि यह वाणी का विषय न होकर हृदय का विषय है। इसका कारण यह है कि इसे वाणी द्वारा व्यक्त (वर्णित) नहीं किया जा सकता। इसके उत्तर में आनंदवर्धन कहते हैं अब यह अवर्णनीय कैसे रहा जब कि हमने इसके स्वरूप तथा भेदोपभेद आदि पर 'ध्वन्यालोक' पुस्तक के माध्यम से विवेचन प्रस्तुत कर दिया। (देखिए 'ध्वन्यालोक' 1.19 वृत्ति)

---

[1] **तस्याभावं जगदुरपरे भक्तमाहुस्तमन्ये।**

ये तो थे वे तीन प्रकार के ध्वनि-विरोधी आचार्य जिन्हें आनंदवर्धन ने स्वयं उत्तर दिया। इनके पश्चात अभिधावादी, तात्पर्यवादी, और अनुमानवादी आचार्यों ने ध्वनि को अस्वीकार करते हुए इसे क्रमशः अभिधा शब्दशक्ति, तात्पर्यवृत्ति और अनुमान में अंतर्भूत (समाविष्ट) करने का प्रयास किया। मम्मट (11वीं शती उत्तरार्ध) ने इन तीनों आचार्यों के मन्तव्य को अस्वीकृत किया तथा व्यंजना की पुनः स्थापना की। इन सबके अतिरिक्त कुंतक ने ध्वनि-सिद्धांत के स्थान पर वक्रोक्ति सिद्धांत का प्रवर्तन किया।

6.2.4 ध्वनि के प्रति पाश्चात्य दृष्टि

आइए, अब ध्वनि के संबंध में पाश्चात्य काव्याशात्र के अनुसार विचार करें। पश्चिम में ध्वनि का सीधा विवेचन तो नहीं मिलेगा, पर हाँ, इसके समकक्ष दृष्टि अवश्य मिल सकती है, और वह इस रूप में कि ध्वनि (व्यंग्यार्थ) वस्तुतः कल्पना का पर्यायवाची है। कवि अपनी विशिष्ट शब्दावली के माध्यम से सहृदय में कल्पना को जगाता है और इसके जगते ही सहृदय काव्यानंद (रस) को प्राप्त करता है।

इस पाठ में प्रस्तुत निराला पद्य 'वह इष्टदेव के मंदिर की पूजा सी ...' को आप एक बार फिर पढ़िए। इस पद्य में प्रयुक्त पूजा, दीपशिखा आदि वाचक शब्दों के वाच्यार्थों से हमें काव्यानंद (रस) की अनुभूति तब तक नहीं होती - जब तक हमें इनका क्रमशः पवित्रता, तेजस्विता आदि व्यंग्यार्थ समझ में नहीं आता इनके व्यंग्यार्थ की प्रतीति होते ही हमें रसानुभूति होती है। इस प्रकार ये तीन चरण हुए- (1) पाठक अथवा दर्शक को वाच्यार्थ के ज्ञान के अनंततर (2) व्यंग्यार्थ की प्रतीति होते ही (3) रस की अनुभूति। इसी व्यंग्यार्थ को आधुनिक मनोविज्ञान में कल्पना- तत्व कहा गया है। यों कहिए कि ध्वनि (व्यंग्यार्थ) कल्पना का पर्यायवाची है।

पाश्चात्य काव्यशास्त्र में आद्याचार्य **प्लेटो** (428-448 ई.पू.) के अनुसार काव्य भौतिक पदार्थों या घटनाओं का अनुकरण करता है, अतः काव्य उनकी अनुकृति अथवा प्रतिकृति मात्र है, इससे बढ़कर और कुछ नहीं है। उनके इस प्रकार के कथनों से माना जाता है कि उनकी दृष्टि वाच्यार्थ तक सीमित थी - वे व्यंग्यार्थ अथवा कल्पना-तत्व तक नहीं पहुँचे थे।

पर प्लेटो के शिष्य **अरस्तू** ने इस मर्म को पहचाना। यों, अरस्तू भी काव्य को मानते तो 'अनुकृति' (अनुकरण : imitation) ही है, पर प्लेटो के समान अनुकृति से उनका तात्पर्य प्रतिकृति नहीं है, अपितु वस्तु (वर्ण्य विषय) का कल्पनात्मक पुनर्निर्माण है - कल्पना पर आधारित पुनःसर्जना है। पाठक वस्तु के प्रत्यक्ष रूप को ग्रहण नहीं करता, उसके विषय में कवि के मानस में क्या रूप है उसे ग्रहण करता है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के कथनानुसार पाठक कवि की उक्ति का अर्थ (वाच्यार्थ) ग्रहण नहीं करता, उसका बिम्ब (इमेज) ग्रहण करता ह। इस प्रकार अरस्तू का अनुकृति शब्द प्रकारांतर से व्यंग्यार्थ (ध्वनि) का संकेत प्रस्तुत करता है।

होरेस (रोमन आलोचक) के कथनानुसार 'यदि कोई (कवि) किसी विदग्ध प्रसंग की उद्भावना कर किसी प्राचीन शब्द को नवीन अर्थ दे सके तो वह पूर्ण सफल (कवि) होगा।' प्राचीन शब्द को नवीन अर्थ देना इधर कल्पना-तत्व की ओर संकेत करता है और उधर व्यंग्यार्थ की ओर। क्विटेंलियन (लैटिन समीक्षक) का कथन है कि 'वाणी में चमत्कार लाने के लिए कला का

गोपन-अव्यक्त रहना - आवश्यक है इस कथन में 'कला का अव्यक्त रहना' प्रकारांतर से ध्वनि (व्यंग्यार्थ) की ओर संकेत करता है। **ड्राइडन** (18वीं शती) के कथनानुसार 'कवि के लिए विवेक आवश्यक है, पर कल्पना ही उसकी कविता को जीवन-स्पर्श और अव्यक्त छवियाँ प्रदान करती है। यहाँ 'अव्यक्त छवि' शब्द को ध्वनि (व्यंग्यार्थ) का पर्यायवाची निःसंदेह स्वीकार किया जा सकता है।

इसी प्रकार पाश्चात्य काव्यशास्त्र के अंतर्गत **क्रोचे** का अभिव्यंजनावाद (Expressionism), **डब्ल्यू.बी. यीट्स, एबरक्रोम्बी** आदि का प्रतीकवाद (Symbolism) भी स्पष्टतः तो नहीं, प्रकारातर से, ध्वनि (व्यंग्यार्थ) तत्व की ओर अवश्य संकेत करते हैं।

6.2.5 हिंदी आचार्यों का ध्वनि संबंधी मत

इधर हिंदी के आधुनिक मनीषियों में से आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने प्रश्न उठाया था 'काव्यत्व का अधिवास वाच्यार्थ में होता है अथवा व्यंग्यार्थ में' इस विषय में उनका स्पष्ट उत्तर है - वाच्यार्थ में'। उदाहरणार्थ : 'जीकर हाय पतंग मरे क्या' यह वाक्य भले ही अयोग्य तथा अनुपपन्न है, पर चमत्कार इसके वाच्यार्थ में ही है कि पतंगा यदि शमा पर अपने-आपको न जला कर जीता है तो यह उसकी मौत है - जीते हुए भी मरना-इसी वाच्यार्थ में चमत्कार है, न कि इस लक्ष्यार्थ में कि पतंगा जीकर क्यों कष्ट भोगे, और न ही इस व्यंग्यार्थ में कि प्रेमी अपनी प्रेमिका पर अत्यंत आसक्त है।

वास्तव में, यह समस्या आनंदवर्धन के सम्मुख भी थी और इसी कारण उन्होंने ध्वन्यर्थ के दो भेद किये थे वाच्य और प्रतीयमान (व्यंग्य)।[1] इन भेदों से उनका तात्पर्य था कि व्यंग्यार्थ, वाच्यार्थ की भूमि पर ऐसा टिका होता है, जैसे कि भित्ति आदि नींव (आधारभूमि) पर टिके हो हैं।[2] अतः वाच्यार्थ का भी अपना महत्व है - पर देखा जाए तो वाच्यार्थ से अंततः प्रतिफल तो व्यंग्यार्थ का होता है जिसे आनंदवर्धन ने रसानुभूति के लिए अनिवार्य कड़ी माना। जो हो, शुक्ल जी भी संभवतः इसी प्रकार की मान्यता रखते हों। पर सचाई यह है कि वाच्यार्थ (आधारभूमि) की अपेक्षा व्यंग्यार्थ (आधेय) का महत्व अधिक माना जाना चाहिए जो सहृदय-श्लाघ्य होता है - ज्यों ही कोई सहृदय पाठक वाच्यार्थ से यथेष्ट व्यंग्य अर्थ को समझ लेता है त्यों ही उसे काव्यत्व की अनुभूति हो जाती है न कि व्यंग्यार्थ की प्रतीति से पूर्व। अतः काव्यत्व का अधिवास व्यंग्यार्थ में मानना चाहिए न कि वाच्यार्थ में।

6.3 वक्रोक्ति सिद्धांत (वक्रोक्ति संप्रदाय)

वक्रोक्ति सिद्धांत के प्रवर्तन का श्रेय **कुंतक** को तो है, पर इनसे पूर्व वक्रोक्ति नामक काव्यतत्व व्यापक और संकुचित दोनों अर्थों में प्रचलित रहा। अपने ग्रंथ "वक्रोक्ति जीवितम्" में कुंतक ने वक्रोक्ति का व्यापक अर्थ ग्रहण करते हुए इसका लक्षण एवं स्वरूप प्रस्तुत किया, इसके अनेक भेदोपभेद किए तथा इसे काव्य का जीवित (आत्मा) माना। कुंतक के बाद इस सिद्धांत का अनुकरण नहीं हुआ, अपितु महिमभट्ट और विश्वनाथ ने अपने-अपने दृष्टिकोण से इसका खंडन किया।

वक्रोक्ति शब्द का दो रूपों में प्रयोग

रीति और अलंकार की भाँति वक्रोक्ति शब्द का भी काव्यशास्त्र में पहले व्यापक और फिर संकुचित दोनों रूपों में प्रयोग हुआ है। वक्रोक्ति के व्यापक अर्थ का संकेत काव्यशास्त्र के ग्रंथों के अतिरिक्त बाणभट्ट (छठी शती) के ग्रंथ 'कादंबरी' में भी मिलता है, जहाँ राजा शूद्रक को 'वक्रोक्ति-निपुण' कहा गया है। ऐसा प्रतीत होता है कि बाणभट्ट 'वक्रोक्ति' के विभिन्न तत्वों से परिचित थे, और उन्होंने स्वयं भी वक्रोक्ति-मार्ग को अपनाया, जिसे लक्ष्य में रखकर कविराज (11वीं शती) ने अपने ग्रंथ 'राघव-पाण्डवीयम्' में बाणभट्ट 'वक्रोक्तिमार्ग-निपुण" कहा।[3] बाणभट्ट के निम्नोक्त कथन में संभवतः वक्रोक्ति के तत्वों का उल्लेख है - 'नवीन अर्थ', अग्राम्य जाति, अक्लिष्ट श्लेष, स्फुट रस और विकट अक्षर बंध - ये सभी एक साथ दुर्लभ होते हैं।[4]

अब काव्यशास्त्रीय ग्रंथों को लीजिए। कुंतक वक्रोक्ति-सिद्धांत के प्रवर्तक माने जाते हैं, किंतु इनसे पूर्व भामह और दण्डी के ग्रंथों में अलंकार रूप में 'वक्रोक्ति' के व्यापक रूप का स्रोत उपलब्ध हो जाता है, और वामन, रूद्रट तथा आनंदवर्धन ने इसे केवल अलंकार के रूप में स्वीकृत किया। कुंतक के समकालीन भोजराज ने वक्रोक्ति का व्यापक अर्थ ग्रहण किया तो मम्मट आदि आचार्यों ने संकुचित अर्थ। एक दिग्दर्शन प्रस्तुत है -

- भामह वक्रोक्ति को व्यापक अर्थ में ग्रहण करते हुए इसे अतिशयोक्ति का पर्याय मानते हैं और इसे सब अलंकारों का अनिवार्य तत्व घोषित करते हैं। इसी से ही अर्थ चमत्कृत हो उठता है। उनके अनुसार इसके बिना रचना यथार्थ काव्य न होकर कथन-समुदाय मात्र या वार्ता-मात्र रह जाती है।[5]
- दण्डी ने समस्त वाड्मय को प्रमुख दो भागों में (क) स्वभावोक्ति; और (ख) वक्रोक्ति में विभाजित किया, उन्होंने स्वभावोक्ति को छोड़कर उपमा आदि शेष सभी अलंकारों को वक्रोक्ति का पर्याय माना। (काव्यादर्श)

---

[1] योऽर्थः सहृदश्यलाघ्यः काव्यात्मेति व्यवस्थितः।
वाच्यप्रतीयमानाख्यौ तस्य भेदावुभौ स्मृतौ।। — ध्वन्यालोक 1.2

[2] यथा पूर्वानिर्माणे चिकीर्षिते पूर्वं भूमिरेव विरच्यते तथा ध्वनिस्वरूपे
प्रतीयमानाख्ये निरूपयित्व्ये निर्विवादसिद्धवाच्याभिधानं भूमिः।
तत्पृष्ठकेकऽधिकप्रतीयमानांशोल्लिङ्गनात्।। — ध्वन्यालोक 1.2 वृत्ति

[3] सुबन्धुबाणभट्टश्च कविराज इति त्रयः।
वक्रोक्तिमार्गनिपुणाश्चतुर्थो विद्यते न वा।। — राघवपाण्डवीयम्

[4] नवोऽर्थो जातिरग्राम्या श्लेषो क्लिष्टः स्फटो रसः।
विकटाक्षरबंधश्च कृत्स्नमेकत्र दुर्लभम्।। — हर्षचरितम्

[5] (क) सैषा सर्वैव वक्रोक्तिरनयाऽर्थो विभाव्यते।
यत्नोऽस्यां कविना कार्यः कोऽलंकारोऽनया बिना।। — काव्यालंकार 2.85
(ख) काव्यालंकार 2.86, 87

- वामन ने वक्रोक्ति को एक अर्थालंकार मात्र माना, जिसका लक्षण है -'सादृश्याल्लक्षणा वक्रोक्तिः', अर्थात् सादृश्य पर आधारित (गौणी) लक्षणा वक्रोक्ति अलंकार कहलाता है। (काव्यालंकारसूत्रवृत्ति 4.3-8) पर वामन की यह धारणा आगे चलकर किसी भी रूप में स्वीकृत नहीं हुई।

- रूद्रट ने वक्रोक्ति को एक शब्दालंकार मात्र स्वीकार करते हुए इसके दो भेदों का उल्लेख किया - काकु-वक्रोक्ति और सभंग-वक्रोक्ति (काव्यालंकार 2.14-17) और आनंदवर्धन ने इसे वाच्यालंकार (अर्थालंकार) मात्र स्वीकार किया। (ध्वन्यालोक 2.21 'वृत्ति')

कुंतक के समकालीन आचार्य भोजराज ने वक्रोक्ति का व्यापक अर्थ ग्रहण करते हुए 'वक्रवचन' को काव्य कहा, और समस्त वाङ्मय को तीन प्रकारों में विभाजित कियाः वक्रोक्ति, रसोक्ति और स्वभावोक्ति। (सरस्वती कण्ठाभरण 5.8)

इनके पश्चात् मम्मट और विश्वनाथ ने वक्रोक्ति को एक शब्दालंकार मात्र माना और रूय्यक, विद्यानाथ और अप्पय्यदीक्षित ने एक अर्थालंकार मात्र।

6.3.1 कुंतक-सम्मत वक्रोक्ति के छः प्रमुख भेद

लक्षण

कुंतक ने भामह और दण्डी के समान वक्रोक्ति का व्यापक अर्थ लिया। उनके अनुसार वक्रोक्ति कहते हैं 'वैदग्ध्य-भंगी-भणिति' को, अर्थात् कविकर्म-कौशल से उत्पन्न वैचित्र्यपूर्ण अथवा विदग्ध कथन को। दूसरे शब्दों में, जो काव्य-तत्व किसी कथन में विशेष काव्य-सौंदर्य या लोकोत्तर चमत्कार उत्पन्न कर दे उसका नाम वक्रोक्ति है। इसका तात्पर्य यह है कि लोकवार्ता या कहिए लौकिक सामान्य वचन से, विशिष्ट कथन 'वक्रोक्ति' के अंतर्गत आता है। पर यह कथन सहृदयों के लिए आह्लादकारी होना चाहिए। उन्होंने वक्रोक्ति को एक ओर तो 'काव्य का अपूर्व अलंकार' कहा और दूसरी ओर इसे 'विचित्र अभिधा' (प्रकारांतर से कहें तो 'ध्वनि') की संज्ञा प्रदान की।[1]

इससे प्रतीत होता है कि कुंतक अलंकार और ध्वनि से प्रभावित होते हुए भी वक्रोक्ति को इन दोनों तत्वों की भाँति व्यापक रूप में प्रतिपादित करना चाहते थे। वस्तुतः, ध्वनि के बहुसंख्यक भेदोपभेदों को - जो कि पदांश से लेकर प्रबंध तक फैले हुए है - वक्रोक्ति के कलेवर में समाविष्ट करने के उद्देश्य से ही इन्होंने इस सिद्धांत का प्रतिष्ठापन किया और इसके अनेक भेदोपभेद प्रस्तुत किये।

कुंतक-सम्मत वक्रोक्ति के छः प्रमुख भेद हैं - (1) वर्णविन्यासवक्रता; (2) पदपूर्वार्धवक्रता, (3) पदपरार्धवक्रता, (4) वाक्यवक्रता, (5) प्रकरणवक्रता, (6) प्रबंधवक्रता। फिर इनके कुल 38 उपभेद हैं। इन भेदोपभेदों का संक्षिप्त स्वरूप इस प्रकार है :

1. वर्णविन्यासवक्रता

वर्णों के विन्यास पर, विशेषतः वर्णों की आवृत्ति पर, आधारित वक्रता। सभी शब्दालंकारों, विशेषतः अनुप्रास और यमक, के भेदों का चमत्कार इसी में अंतर्भूत है। उदाहरणार्थ :

एक वर्ण की आवृत्ति -

कनक कोमल केसर कलियाँ।
ज्ञान-गिरा गुण की गलियाँ।। वैतालिक (मै.श. गुप्त)

दो वर्णों की आवृत्ति -

नया-नया उत्साह कार्य में उसे रहता था। शकुंतला (मै.श. गुप्त)

रकार-युक्त वर्ण की आवृत्ति -

चित्र भी था चित्र और विचित्र भी।
रह गये चित्रस्थ से सौमित्र भी।। साकेत (मै.श. गुप्त)

कुंतक ने वर्णों के विन्यास को एक प्रकार की वक्रता (चमत्कार) स्वीकार करते हुए भी इनके विवेकशील प्रयोग पर बल देने के उद्देश्य से निम्नोक्त प्रतिबंधों का निर्देश किया है - वर्णविन्यास-वक्रता

---

[1] (क) वक्रोक्तिः प्रसिद्धाभिधानव्यतिरेकिणी विचित्रैवाभिधा। कीदृशी वैदग्ध्यभंगीभणिति।
वैदग्ध्यं विदग्धता, कविकर्मकौशलम्, तस्य भंगी विच्छितिः, तया भणितिः।
विचित्रैवाभिधा वक्रोक्तिरित्युच्यते।
(ख) लोत्तरचमत्कारकारि-वैचित्र्य-सिद्धये
काव्यस्यायमलंकारः कोऽप्यपूर्वो विधीयते।। (व.जी. 1.2)

(1) विषयानुकूल होनी चाहिए (2) आग्रह-पूर्वक विरचित न हो (3) न असुंदर वर्णों से युक्त हो (4) वैचित्र्य-पूर्ण हो, पूर्ववृत्त वर्ण यथासंभव पुनः आवृत्त न हों (5) प्रसादगुण-सम्पन्न हो (6) श्रुति-सुखद हो।

2. पद-पूर्वार्द्धवक्रता

पद के पूर्वार्द्ध (प्रकृति अथवा प्रातिपदिक) पर आधारित वक्रता। इसके निम्नोक्त 8 भेद हैं -

(क) **रूढ़िवैचित्र्यवक्रता** : रूढ़ि (प्रसिद्धार्थ) से किसी असंभव अर्थ के आरोप द्वारा प्राप्त वक्रता। उदाहरण-

मेरा राम रमा है मुझ में,
मैं चाहे मणि हूँ या काँच। गुरूकुल (मै.श. गुप्त)

'राम' शब्द का रूढ़ अर्थ है दशरथ-पुत्र, पर यहाँ अभीष्ट है रूढ़ि से विचित्र अर्थ-भक्त-रक्षक, दयालु आदि।

(ख) **पर्याय वक्रता** : किसी विशिष्ट पर्याय (समानार्थक शब्द) पर आश्रित वक्रता। जैसे निम्नोक्त पद्य में पृथ्वी शब्द के पर्याय 'रसा' के प्रयोग पर वक्रता आधारित है-

है कृषि-प्रधान प्रसिद्ध भारत और कृषि की यह दशा।
होकर रसा यह नीरसा अब हो गई है कर्कशा।। भारत-भारती (मै.श. गुप्त)

भूमि-वाची अनेक शब्दों में से यहाँ 'रसा' शब्द अत्यंत सार्थक एवं उपयुक्त होने से वक्रता (काव्य चमत्कार) का उत्पाद है।

(ग) **उपचार-वक्रता** : सर्वथा भिन्न स्वभाव वाले भी 'प्रस्तुत' पर उस 'अप्रस्तुत' के आरोप द्वारा प्राप्त वक्रता जिसके सामान्य धर्म का प्रस्तुत के साथ के संबंध मात्र ही हो। उदाहरण-

जल भी परम उमंग भरा,
नाच रहा है रंग-भरा। वैतालिक (मै.श.गुप्त)

जल पर नर्तक का आरोप : जड़ पर चेतन का आरोप उपचारवक्रता का सूचक है। इसी प्रकार

नीरव संध्या में प्रशांत।
डूबा है सारा ग्राम-प्रांत। पन्त

(घ) **विशेषण-वक्रता** : जहाँ विशेषणों के कारण वक्रता हो। जैसे-

मूक स्तब्ध सजनता मेरी।
कल-कल विकल विजनता।

(ड.) **संवृति-वक्रता** : सर्वनाम के प्रयोग द्वारा संवृति (वस्तु-गोपन) से प्राप्त वक्रता जैसे-

पड़ी तरल यमुना तरंगिनी धनी खड़ी हो जावे।
तो उस अंग-भंगिमा का कुछ रंग-ढंग वह पावे।।

यहाँ 'कुछ' शब्द द्वारा अभीष्ट कथ्य की संवृति की गयी है।

(च) **वृत्ति-वक्रता** : समास, तद्धित, कृत आदि से युक्त वृत्तियों द्वारा प्राप्त वक्रता। जैसे-

तुमने यह कुसुम-विहग! लिबास
क्या अपने सुख से स्वयं बुना?

यहाँ 'कुसुम-विहग' समासबद्ध पद चमत्कारोत्पादक है।

(छ) **लिंगवैचित्र्य-वक्रता** : पुलिंग अथवा स्त्रीलिंग के प्रयोग के कारण वक्रता, जैसे-

सिखा दो ना है मधुपकुमारि!
मुझे भी अपने मीठे गान। -पन्त

छायावादी काव्य में प्रकृति पर नारी के आरोप द्वारा अनेक काव्य-चमत्कार उत्पन्न किए गए हैं। यहाँ 'मधुपकुमार' शब्द भी प्रयुक्त हो सकता था, परंतु उससे अभीष्ट अर्थ की प्राप्ति न होती।

(ज) **क्रियावैचित्र्य-वक्रता** : क्रिया की विचित्रता के कारण वक्रता। जैसे-

(i) आनन ते छलकी परै आँखें।
(ii) उन्नत वक्षों में आलिंगन-सुख लहरों सा तिरता।

3. पदपरार्ध-वक्रता

पद के परार्ध अर्थात् प्रत्यय से (उत्पन्न) वक्रता। इसके निम्नोक्त छः भेद हैं-

(क) **काल-वक्रता** : वर्तमान, भूत अथवा भविष्यत् काल (के सूचक प्रत्यय) के कारण वक्रता। जैसे-

हाय! मिलेगा मिट्टी में वह वर्ण-सुवर्ण खरा
सूख जाएगा मेरा उपवन जो है आज हरा।। यशोधरा (मै.श.गुप्त)

'मिलेगा', 'सूख जाएगा' भविष्यत् काल के इन प्रयोगों द्वारा कवि ने यशोधरा की वृद्धावस्था की ओर संकेत किया है।

(ख) **कारक-वक्रता** :

झींगुर के स्वर का प्रखर तीर केवल प्रशांत को रहा चीर। -- पन्त

'तीर के द्वारा' कारक का प्रयोग न करके 'तीर' कर्ता कारक का प्रयोग किया गया है।

(ग) **संख्या (वचन) वक्रता** :

हमीं भेज देती है रण मे, क्षात्र धर्म के नाते। यशोधरा (मै.श.गुप्त)

'मैं भेज देती' के स्थान पर 'हमीं' का प्रयोग समस्त क्षत्रिय-नारियों का सूचक है, जिससे यह वक्रता ज्ञात होती है कि मैं भी उसी परंपरा का पालन अनिवार्यतः करती।

(घ) **पुरूष-वक्रता** :

करके ध्यान आज इस जन का निश्चय वे मुस्काये। -मै.श.गुप्त

यहाँ 'मेरा' (उत्तम पुरूष) के स्थान पर 'इस जन' (अन्य पुरूष) का प्रयोग किया गया है।

(ड.) **प्रत्यय-वक्रता** : एक प्रत्यय में अन्य प्रत्यय लगाने के कारण वक्रता। यों तो इस प्रकार के प्रयोग संस्कृत भाषा में संभव हैं, किंतु 'संदेश' से 'संदेसड़ा' जैसे हिंदी-प्रयोग भी उदाहरण-स्वरूप लिये जा सकते हैं -

पिय सो कहहु संदेसड़ा हे भैंरा, हे काग। -जायसी

पदपूर्वार्ध-वक्रता और पदपरार्ध-वक्रता निर्दिष्ट करने के बाद कुंतक ने उपसर्गवक्रता और निपातवक्रता ये दो भेद और निर्दिष्ट किए हैं - इन दोनों को पदवक्रता के रूप मान सकते हैं :

(i) उपसर्ग-वक्रता : उपसर्ग के प्रयोग-कौशल के कारण वक्रता।

एक बार पीकर प्रमत्त हुआ जहाँ,
सुध फिर अपनी पराई उसको कहाँ? -नहुष (मै.श.गुप्त)

(ii) निपात-वक्रता : निपात (अव्यय) के प्रयोग-कौशल के कारण वक्रता।

उसके आशय की थाह मिलेगी किसको?
जन कर जननी ही जान न पायी जिसको। - मै.श.गुप्त

4. वाक्य-वक्रता

वाक्य के प्रयोग-कौशल के कारण वक्रता। इसे वाच्यवक्रता अथवा वस्तुवक्रता भी कहते हैं। यहाँ वस्तु से तात्पर्य है वर्ण्य विषय। इसके दो भेद हैं -

(क) **सहजा वस्तुवक्रता** : पदार्थ की स्वाभाविक शोभा का वर्णन अथवा स्वभावोक्ति (देखिए 'ध्वनि-सिद्धांत' के अंतर्गत 'अलंकार-व्यंग्य') कवि की सहज प्रतिभा द्वारा प्रकृत वस्तुओं का सजीव चित्रण सहजा वाक्य (वाच्य) वक्रता कहलाता है। कुंतक के अनुसार वयःसंधि, ऋतु-संधि, नारी के अंगों का सौंदर्य, उषाकाल की उज्ज्वल आभा आदि सहज-सुंदर विषयों का स्वाभाविक रूप में वर्णन इसी के अंतर्गत आता है। उदाहरणार्थ, स्वाभाविक-शोभा-वर्णन से संबंधित ये दो स्थल लीजिए-

(i) भरा हुआ तालाब खेलती हैं मछलियाँ
पानी की सतह पर पूँछ पटकती हुई। (अणिमा - निराला)

(ii) जलाशय के किनारे कुहरी थी,
हरे नीले पत्तों का घेरा था।
पानी पर आम की डाल आई हुई,
गहरे अंधेरे का डेरा था। (अणिमा - निराला)

(ख) **अर्थालंकारों के प्रयोग-कौशल से जन्य वक्रता** : किसी भी अर्थालंकार का उदाहरण वाक्यवक्रता के इस भेद के अंतर्गत गृहीत किया जा सकता है, जैसे निम्नोक्त पद्य में रूपक अलंकार के कारण-

उदित उदयगिरि मंच पर, रघुवर बाल पतंग।
विकसे संत सरोज सब, हरषे लोचन भृंग।। (रामचरितमानस)

आनंदवर्धन जहाँ कोई अर्थालंकार व्यंग्य-रूप में मानते हैं, कुंतक ने वहाँ भी वाक्यवक्रता मानी है जैसे -

दियो अरघ नीचे चलौ संकट भानै जाइ।
सुचती ह्वै सखिहि सबै ससिहि विलोकन आइ।। (बिहारी)

5. प्रकरण-वक्रता

प्रकरण से तात्पर्य है प्रबंध का एक देश या अंग अर्थात् कथा-प्रसंग। इसकी वक्रता प्रकरण-वक्रता कहलाती है। यह वक्रता निम्नोक्त आठ प्रकारों से उत्पन्न की जा सकती है -

(क) **पात्र-प्रवृत्ति-वक्रता** : अर्थात् पात्रों द्वारा भावपूर्ण स्थिति की उद्भावना-जिससे पात्रों के चरित्र का उत्कर्ष हो। उदाहरणार्थ -

आया फिर तू राम, कोख में मानो मेरी
लक्ष्मण, मेरी गोद रहे शिशु-शैया तेरी।
जन्म जन्म में यही कोख जननी मैं पाउँ
माँ, मैं लक्ष्मण इसी गोद में पलता जाउँ। -साकेत, सर्ग 12 (मै.श. गुप्त)

इस भावपूर्ण संवाद से कौशल्या, राम और लक्ष्मण का उत्कर्ष द्योतित होता है।

(ख) **उत्पाद्यलावण्य** : ऐतिहासिक कथावस्तु में कवि-कल्पना द्वारा नवीन काव्य-सौंदर्य की उत्पत्ति। इसके दो रूप हैं -

(i) **अविद्यमान की कल्पना** : अर्थात् नवीन, प्रसंग की उद्भावना- जैसे, कालिदास ने अभिज्ञानशाकुंतल में दुर्वासा के शाप की कल्पना द्वारा दुष्यंत के चरित्र को लांछित होने से बचा लिया।

इसी प्रकार 'साकेत' में मैथिलीशरण गुप्त ने कैकेयी के हृदय में अपने पति के प्रति और भी अधिक अविश्वस्त होने और उसे अनिष्टकारी समझने का यह एक नूतन कारण प्रस्तुत किया है कि-

'भरत से सुत पर भी संदेह
बुलाया तक न उन्हें जो गेह',
गूँजते थे रानी के कान
तीर-सी लगती थी यह तान।

इसी प्रकार साकेत में कैकेयी का पश्चाताप-प्रसंग, लक्ष्मण-शक्ति का संवाद सुनकर अयोध्यावासियों का रणसज्जा-प्रसंग आदि।

(ii) **विद्यमान का संशोधन** : जैसे मायुराज प्रणीत 'उदात्तराघव' सस्कृत-नाटक (अप्राप्य) में मारीच-वध के लिए राम नहीं अपितु लक्ष्मण जाते हैं और सीता लक्ष्मण की प्राण-रक्षा के लिए राम को भेजती है।

(ग) **प्रमुख तथा और प्रासंगिक कथाओं में उपकार्योपकारक-भाव** : प्रासंगिक कथाएँ परस्पर एक-दूसरे का उपकार करती हुई अंततः प्रमुख कार्य (फलबंध) का उपकार करें। उदाहरणार्थ 'उत्तररामचरित' नाटक के पहले अंक में राम ने जृम्भकास्त्रों की अद्भुत शक्ति का वर्णन किया और पाँचवें अंक में लव ने उन अस्त्रों का प्रयोग किया। इन दोनों प्रसंगों में से पहला दूसरे का उपकारक है, क्योंकि दूसरे प्रसंग में पाठकों को इन अस्त्रों की अद्भुत क्षमता पूर्वज्ञात थी, अन्यथा वे इसे असंभव समझते। और फिर, ये दोनो प्रसंग नाटक के अंत में 'राम-सीता मिलन' इस प्रमुख कार्य (फलबंध) का उपकार करते हैं। कुंतक की यह मान्यता अरस्तू-सम्मत 'कार्यान्विति' (Unity of action) के अधिकांशतः समीप है।

इसी प्रकार साकेत के दूसरे सर्ग में लक्ष्मण तथा उर्मिला का भरत के विषय में सोचना कथा-प्रसंग को आगे बढ़ाता है। 'कामायनी' के कामसर्ग में मनु-काम की वार्ता आगे चलकर इड़ा सर्ग में काम के अभिशाप का उपकार करती हुई मनु को पतन के मार्ग पर और भी वेग से

अग्रसर कर देती है, और इस प्रकार चरम घटना की सिद्धि में सहायक होती है। ('वक्रोक्ति-जीवित' की भूमिका, डॉ. नगेन्द्र, पृ.98)

(घ) **आवृत्ति-वक्रता** : अर्थात् किसी एक प्रकरण का अत्यंत मनोहारी वर्णन-कथा के किसी एक प्रकरण का, नवीन एवं मनोहारी वर्णन[1] प्रबंध काव्य को वक्रतापूर्ण बना देता है। उदाहरणार्थ 'कामायनी' में लज्जा-वर्णन 'साकेत' में उर्मिला-विरह-वर्णन, आदि।

(ड.) **प्रकरण-रस-वक्रता** : अर्थात् रोचक प्रसंगों का विशेष विस्तार से वर्णन-जैसे षड्ऋतु, चन्द्रोदय, सूर्योदय, जलक्रीड़ा, मधुपान आदि का। उदाहरणार्थ, 'रघुवंश' में कुश की जलक्रीड़ा का वर्णन, 'किरातार्जुनीय' में बाहुयुद्ध-प्रसंग। इधर प्रियप्रवास में रास-क्रीड़ा आदि, 'जयद्रथ-वध' में स्वर्ग-वर्णन आदि, 'साकेत' में चित्रकूट वर्णन आदि।

(च) **अप्रधान किंतु सुंदर प्रसंग का उद्भावना द्वारा प्रधान कथावस्तु की सिद्धि** : 'मुद्राराक्षस' नाटक में चाणक्य द्वारा नियुक्त पुरूष द्वारा आत्महत्या का प्रपंच करना, जिससे चाणक्य राक्षस को जीवित बंदी बना सकने में सफल हुआ। इसी प्रकार मैथिलीशरण गुप्त के 'शकुंतला' काव्य में वणिक् द्वारा डूबकर मर जाने के प्रसंग से दुष्यंत को अपनी वंशरक्षा की सुधि आ गयी, आदि।

(छ) **गर्भांक** : नाटक के अंक के अंतर्गत लघु अंक की रचना जिसमें एक कुशल नट सामाजिक का रूप ग्रहण कर लेता है जैसे राजशेखर के 'बालरामायण' नाटक के तीसरे अंक में 'सीता-स्वयंवर' नामक गर्भांक।

(ज) **विभिन्न प्रकरणों की परस्पर अन्विति** : मुख, प्रतिमुख आदि पाँच नाट्यसंधियों के माध्यम से विभिन्न प्रकरणों की परस्पर सम्बद्धता। संस्कृत और हिदीं के प्रायः सभी प्रबंध-काव्य - रघुवंश, कुमारसंभव, किरातार्जुनीय आदि, तथा इधर हिंदी में 'कामायनी', 'साकेत', 'यशोधरा', 'नूरजहाँ', 'लोकायतन' आदि इसी अन्विति के कारण ही उपादेय बन सके हैं।

6. प्रबंध-वक्रता

'प्रबंध' से तात्पर्य है महाकाव्य, खण्डकाव्य, एकार्थकाव्य नाटक आदि। प्रंबध से सम्बद्ध कवि-कौशल प्रबंध-वक्रता कहलाता है। इसके छह भेद हैं -

(क) **मूलरस में परिवर्तन** : आधार-कथा को हृदयहारी बनाने के उद्देश्य से उसके मूल रस के स्थान पर किसी अन्य रस का निर्वहण। उदाहरणार्थ, शांतरस-प्रधान रामायण पर आधारित 'उत्तररामचरित' को करूण रस प्रधान अथवा विप्रलम्भशृंगाररस-प्रधान नाटक के रूप में, और शांतरस-प्रधान महाभारत पर आधारित 'वेणीसंहार' को वीररस-प्रधान नाटक के रूप में प्रस्तुत करना। इसी प्रकार हिंदी में भी रामायण पर आधारित 'रामचन्द्रिका' को वीररस-प्रधान और साकेत को शृंगाररस-प्रधान काव्य के रूप में प्रस्तुत करना।

'मूलरस-परिवर्तन' का उत्कृष्ट उदाहरण है माइकेल मधुसूदन दत्त का मेघनाद-वध, जिसमें मूल कथा में आमूल परिवर्तन के माध्यम से रस-परिवर्तन हो गया है तथा कथा के वातावरण में अपने आधार-ग्रंथ से भिन्नता आ गयी है।

(ख) **प्रकरण-विशेष पर कथा-समाप्ति** : कभी-कभी कवि नायक का उत्कर्ष दिखाने के उद्देश्य से इतिहास-प्रसिद्ध कथा के किसी विशेष प्रकरण पर कथा की समाप्ति कर देता है, विशेषतः उस स्थिति में जब कथा का परवर्ती भाग कोरा इतिवृत्तात्मक अतएव नीरस होता है, जैसे -

यद्यपि 'किरातार्जुनीय' के प्रारंभिक श्लोकों से प्रतीत होता है कि कवि भारवि मूल से लेकर दुर्योधन के नाश और युधिष्ठर के राज्यारोहण-पर्यन्त समग्र कथा का अनुबंध कर रहे हैं, किंतु वह कथा की समाप्ति वहीं कर देते हैं जहाँ अर्जुन किरात-वेशधारी शिव के साथ युद्ध करके अपना शौर्य-पराक्रम दिखाकर पाशुपत अस्त्र प्राप्त कर लेता है।

इधर हिंदी में 'जयद्रथवध' में जयद्रथ के वध के उपरांत मैथिलीशरण गुप्त ने अर्जुन की प्रतिज्ञापूर्ति के साथ कथा की समाप्ति कर दी है, यद्यपि अभी दुर्योधन का नाश तथा युधिष्ठिर का राज्यारोहण आदि घटनाएँ दिखायी जा सकती थीं। 'किरातार्जुनीय' और 'जयद्रथवध'

---

[1] गिर रही पलकें, झुकी थी नासिका की नोक,
भृकुटी थी कान तक चढ़ती रही बेरोक। (कामायनी - वासना सर्ग)

दोनों में कथा को मध्य में छोड़ देने का उद्देश्य है - अर्जुन के चरम उत्कर्ष को दिखाना। इसी प्रकार प्रसाद के 'चन्द्रगुप्त' नाटक में भी कथा वहीं समाप्त कर दी गयी है जब चन्द्रगुप्त यवनों को निष्कासित कर देता है।

(ग) **कथा के मध्य में ही किसी अन्य कार्य द्वारा प्रधान कार्य की सिद्धि** : उदाहरणार्थ, 'शिशुपाल वध' में माघ ने शिशुपाल के वध के पश्चात् कथा की समाप्ति कर दी है, यद्यपि कथा-स्रोत युधिष्ठिर के राजसूय-यज्ञ तक आगे बढ़ना था।

इधर हिंदी में 'नहुष' में नहुष के पतन पर तथा 'विकट भट' में बालक के वीरतापूर्ण कथन पर कथा समाप्त कर दी गयी है। कथा-सूत्र का अनायास एवं आकस्मिक विच्छेद प्रायः अत्यंत चमत्कारपूर्ण हो उठता है।

वस्तुतः उक्त दूसरे और तीसरे भेद में विशेष अंतर नहीं है।

(घ) **नायक द्वारा अनेक फलों की प्राप्ति** : एक विशेष फल की सिद्धि के लिए तत्पर होने पर अन्य फलों की भी प्राप्ति हो जाना। उदाहरणार्थ, 'नागानन्द' नाटक में उसका नायक जीमूतवाहन, मूलतः अपने पिता की सेवा के लिए वन में गया था, किंतु वहाँ उसका गंधर्व-कन्या मलयवती से प्रेम और विवाह हुआ तथ शंखचूड़ नामक नाग की रक्षा के लिए अपने प्राण-त्याग द्वारा उसे नागवंश को नष्ट होने से बचा लिया। इस प्रकार वह पितृभक्त होने के साथ-साथ एक सफल प्रेमी और लोकोपकारक भी बन गया।

इधर 'हिडिम्बा' (मैथिलीशरण गुप्त) में पाँचों पाण्डव लाक्षागृह से प्राण बचाकर अज्ञातवास के लिए गये तो भीम का विवाह हिडिम्बा से हो गया। इस प्रकार 'चित्रांगदा' (अनूदित) में वनवास-दण्ड भोगने के लिए अर्जुन यात्रा के लिए निकलता है, परंतु वहाँ उसे चित्रांगदा की प्राप्ति हो जाती है।

इस प्रकार के प्रसंगों से कवि प्रबंधकाव्य में मानव की बहुविध कुतुहलताओं और अभिलाषाओं की पूर्ति अप्रत्याशित रूप से करके काव्य-वैचित्र्य उत्पन्न कर देता है।

(ड.) **प्रधान कथा का द्योतक नाम** : प्रबंध-काव्य के नामकरण द्वारा कथा के मूल रहस्य को प्रकारांतर से संकेतित करने के माध्यम से प्राप्त वक्रता। जैसे- 'अभिज्ञानशाकुंतल', 'मेघदूत' 'मुद्राराक्षस', 'मृच्छकटिक', और इधर 'साकेत', 'रंगभूमि', 'कायाकल्प', 'लोकायतन' आदि नाम। किंतु इनके विपरीत 'शिशुपालवध', 'यशोधरा', 'जयद्रथवध', 'प्रियप्रवास' आदि नाम अभिघात्मक हैं। अतः इनमं उक्त वक्रता का अभाव है।

(च) **एक विषय से सम्बद्ध विलक्षण-प्रबंधत्व** : एक मूल कथा पर आधारित परस्पर-भिन्न प्रबंधों की रचना, जैसे 'रामायण' पर आधारित 'वीरचरित', 'बाल-रामायण', 'प्रतिभा नाटक', 'रघुवंश' काव्य। इधर हिंदी में 'रामचरितमानस', 'रामचन्द्रिका', 'साकेत', आदि। वस्तुतः प्रबंधवक्रता के इस भेद का प्रयोजन यह है कि सहृदय को तुलनात्मकता से भी एक प्रकार का सुख मिलता है।

इस प्रकार कुंतक-सम्मत वक्रोक्ति के छह प्रमुख भेदों के (6+8+6+2+2+8+6) कुल 38 उपभेद हैं। ये सभी सौंदर्य-प्रकार, यों कहिए वक्रोक्तियाँ, अकेले-अकेले रूप में भी काव्य-सोंदर्य उत्पन्न करती है तथा एक से अधिक रूप में मिलकर भी। दूसरी स्थिति में काव्य की शोभा कहीं अधिक बढ़ जाती है। कुंतक के अनुसार इन्हीं भेदोपभेदों के अंतर्गत काव्य का सभी प्रकार का सौंदर्य, चाहे वह बाह्य हो अथवा आंतरिक, समाविष्ट हो जाता है। कतिपय उदाहरण लीजिए-

1. अनुप्रास, यमक आदि शब्दालंकार, तथा उपनागरिका आदि वृत्तियाँ और उनके अनुरूप वैदर्भी आदि रीतियाँ - वर्णविन्यासवक्रता।
2. उपमा, रूपक आदि अर्थालंकार तथा अलंकारध्वनि - वाक्यवक्रता।
3. परिकर और इसके सदृश अर्थालंकार - पर्यायवक्रता।
4. अर्थान्तर-संक्रमित-वाच्य-ध्वनि और अत्यंत-तिरस्कृत-वाच्य-ध्वनि रूदिवैचित्र्यवक्रता (पदपूवार्द्ध वक्रता का एक उपभेद)।
5. ध्वनि के काल, कारक, वचन, उपसर्ग, निपात, आदि से सम्बद्ध उपभेद - पदपरार्धवक्रता अथवा पदवक्रता।
6. वाक्यगत ध्वनि = वाक्यवक्रता के समीप।

7. प्रबंधगत ध्वनि = प्रबंधवक्रता के समीप।

6.3.2 वक्रोक्ति तथा अन्य काव्य-तत्व

कुंतक से पूर्व अलंकार को काव्य का सर्वस्व तथा रीति और ध्वनि को काव्य की आत्मा स्वीकृत किया जा चुका था, तथा भरत और आनंदवर्धन द्वारा रस का स्वरूप ध्वनि के आधार पर अधिकांशतः व्यवस्थित हो चुका था। कुंतक इन चारों काव्य-तत्वों से पूर्णतया परिचित थे। इनमें से वामन-सम्मत रीति को इन्होंने निःसार वस्तु समझव र इस पर विशिष्ट प्रकाश डालना समुचित नहीं समझा।[1] शेष काव्य तत्वों को उन्होंने अपनी मान्यता के अनुसार वक्रोक्ति से सम्बद्ध करते हुए अथवा इसी में अंतर्भूत करते हुए भी कहीं इनका खण्डन नहीं किया।

अलंकार के प्रति कुंतक का दृष्टिकोण यद्यपि भामह, दण्डी और उद्भट जैसे अलंकारवादियों के समान न होकर अधिकांशतः आनंदवर्धन के समान ही है, किंतु वे उनके द्वारा प्रतिपादित अलंकार के 'व्यापक' अर्थ को भुला नहीं सके : काव्यता तो सालंकार [वचन] की होती है, यह एक तथ्य है - 'तत्त्वं, सालंकारस्य काव्यता', और इसी धारणा के वशीभूत होकर मानो वे वक्रोक्ति को एक अपूर्व अलंकार की संज्ञा दे रहे हैं : 'काव्यस्यायमलंकारः कोऽप्यपूर्वो विधीयते।'

- जहाँ तक ध्वनि का प्रश्न है उन्होंने इसी प्रसंग के ठीक आस-पास वक्रोक्ति को 'विचित्रा अभिधा' भी कहा है। इससे उनका तात्पर्य 'ध्वनि' से ही है। इस प्रकार 'ध्वनि' के प्रति भी इन्होंने असाक्षात रूप से अपनी मान्यता प्रकट की है। यों, इन्होंने ध्वनि के भेदापभेदों को ही आधार बनाकर वक्रोक्ति के अधिकतर भेदों का निर्माण किया है, तथा उनके अधिकतर उदाहरण भी 'ध्वन्यालोक' से लिये हैं। वस्तुतः उनका उद्देश्य भी ध्वनि के स्थान पर वक्रोक्ति का प्रतिष्ठापन करना था।

- शेष रहा चौथा काव्यतत्व रस। इसे कुंतक ने मुक्त कण्ठ से स्वीकार किया हे। रस को काव्य का अमृत एवं अंतश्चमत्कार का वितानक मानते हुए प्रकारांतर से इसे सर्वप्रमुख काव्य-प्रयोजन कहा है।[2] उन्होंने रसवत् अलंकार को सब अलंकारों का जीवित कहते हुए प्रकारांतर से रस की उत्कृष्टता घोषित की।[3] प्रकरण-वक्रता और प्रबंध-वक्रता के लिए रस की अनिवार्यता का अनेक रूपों में निर्देश किया, उपसर्ग-वक्रता और निपातवक्रता के प्रसंग में रस की चर्चा की, आदि। इस प्रकार रस की महत्ता स्वीकार करते हुए भी उन्होंने काव्य का 'जीवित' (साधन-भूत तत्व) वक्रोक्ति को ही माना।

वक्रोक्ति : काव्य का जीवित (आत्मा)

वक्रोक्ति के उक्त भेदोंपभेदों से इसकी व्यांपकता स्वतःसिद्ध है तथा इसी के अंतर्गत प्रायः सभी प्रमुख काव्य तत्वों का स्पष्टतः अथवा प्रकारांतर से समावेश हो जाता है। इसी कारण कुंतक ने वक्रोक्ति को 'काव्य का जीवित' स्वीकार किया। वस्तुतः कुंतक की इस धारणा का मूल आधालत नहीं हो सका। र है वक्रोक्ति का स्वरूप -- उक्ति की वक्रता अथवा विच्छित्ति को वक्रोक्ति कहते हैं, और इसी व्यावतर्क धर्म[4] के बल पर काव्य को एक ओर लौकिक कथनों से, और दूसरी ओर शास्त्रीय प्रतिपादनों से पृथक कहा जा सकता है।

6.3.3 वक्रोक्ति सिद्धांत की अस्वीकृति

कुंतक के वक्रोक्ति-तत्व का, आगे चलकर, किसी आचार्य ने अनुमोदन नहीं किया। इसका एक मात्र कारण यह है कि रस और ध्वनि जैसे आंतरिक तथा अपेक्षाकृत अधिक व्यवस्थित तत्व की तुलना में वक्रोक्ति जैसा अधिकांशतः बाह्य और अपेक्षाकृत न्यूनतया व्यवस्थित तत्व प्रचविश्वनाथ ने 'वक्रोक्तिः काव्यजीवितम्' कथन को अस्वीकार किया भी तो इस आधार पर कि वक्रोक्ति एक अलंकार-मात्र है, किंतु जैसा कि हम देख चुके हैं, विश्वनाथ से पूर्व वक्रोक्ति को एक अलंकार-मात्र वामन, रूद्रट, आनंदवर्धन और मम्मट ने भी माना है। पर वक्रोक्ति का यह संकुचित अर्थ इसके कुंतक-सम्मत व्यापक अर्थ से नितांत भिन्न है। इन दोनों के नाम-साम्य को देखकर विश्वनाथ द्वारा कुंतक का खण्डन अशास्त्रीय, तर्क-विहीन एवं असंगत है।

---

[1] तदलम् अनेन निःसारवस्तुपरिमल-व्यसनेन। (व.जी. 1.22 वृत्ति)

[2] चतुर्वर्गफलास्वादमप्यतिक्रम्य तदविदाम्।
काव्यामृतरसेनाऽन्तश्चमत्कारो वितन्यते।। व.जी. 1.5

[3] वक्रोक्तिजीवत 3.14.3. वही, 4.4,8,1016,21 4. वही, 2.33

[4] अलग करने वाला तत्व (Differentiating factor)

फिर भी, कुंतक की वक्रोक्ति को काव्य का जीवित (आत्मा) नहीं माना जा सकता। 'आत्मा' शब्द से काव्यशास्त्रीय क्षेत्र में अभिप्राय है - काव्यानंद-प्राप्ति का वह साधन जो पर्याप्त विशद होने के साथ-साथ नितांत आंतरिक भी हो, किंतु कुंतक की वक्रोक्ति साधन तो है, पर्याप्त विशद भी है, परंतु नितांत आंतरिक नहीं है। यह नितांत बाह्य भी नहीं है। इसमें बाह्य और आंतरिक दोनों का समावेश है, फिर भी, इसे अधिकांशतः बाह्य स्तर पर अवस्थित किया गया है। कुंतक का प्रयास कहीं-कहीं अत्यंत असंगत और हास्यास्पद-सा प्रतीत होता है। उदारहणार्थ -

1. अलंकार (वाच्य अलंकार) और अलंकार-ध्वनि दोनों को कुंतक ने वाक्यवक्रता कहा है।
2. 'रामोऽस्मि सर्व सहे' - मैं राम हूँ, सब कुछ सहूँगा - में 'राम' शब्द का वक्रार्थ है - खर-दूषण तथा रावण का निहंता, प्रजापालक, आदर्श नृप आदि। कुंतक इस आंतरिक अर्थ को पदपूर्वार्ध-वक्रता जैसे बाह्यपरक नाम से पुकारते हैं, जबकि आनंदवर्धन उक्त व्यंग्यार्थ को अर्थांतर-संक्रमितवाच्य-ध्वनि कहते हैं।
3. इसी प्रकार कुंतक ने उपचार-वक्रता अर्थात् लक्षणा जैसे आंतरिक तत्व को पदपूर्वाधवक्रता जैसे बाह्य-परक भेद का एक उपभेद माना है। आनंदवर्धन ने इस व्यंग्यार्थ को वस्तुध्वनि नाम दिया था।

इस प्रकार कुंतक का वक्रोक्ति-सिद्धांत वामन के रीति-सिद्धांत और भामह-दण्डी के अलंकार-सिद्धांत के समान काव्य के कला-पक्ष का ही अधिकांश रूप में विवेचक तथा मर्म-निर्देशक है। कला-पक्ष भी निस्संदेह महत्वपूर्ण होता है। इस दृष्टि से वक्रोक्ति-सिद्धांत का भी निजी महत्व है, फिर भी वक्रोक्ति को काव्य की आत्मा (आंतरिक साधन) के रूप में स्वीकृत नहीं किया जा सकता।[1]

6.3.4 पाश्चात्य काव्य-सिद्धांत में वक्रोक्ति

आइए, अब विचार करें कि क्या पाश्चात्य काव्यशास्त्र में भी कुंतक-सम्मत 'वक्रोक्ति' के समान किसी काव्य-तत्व को स्पष्टतः न सही, प्रकारांत से, प्रस्तुत किया गया है।[2]

आप ध्वनि सिद्धांत के अंतिम भाग में पढ़ चुके हैं कि (1) अरस्तू का 'अनुकरण-सिद्धांत', (2) होरेस तथा ड्राइडन द्वारा स्वीकृत 'कल्पना तत्व', (3) क्विन्टेलियन की मान्यता कि 'कला को अव्यक्त रूप में प्रस्तुत किया जाए', (4) क्रोचे का 'अभिव्यंजनावाद'[3] (5) यीट्स एवं एबरक्रोम्बी आदि का 'प्रतीकवाद' - ये सभी- किसी न किसी रूप में 'व्यंग्यार्थ', के समकक्ष ठहरते हैं। (कृपया इन्हें एक बार फिर पढ़ लीजिए।)

उधर 'वक्राक्ति-सिद्धांत' के पाठ में आप पढ़ चुके हैं कि कुंतक 'वक्रोक्ति' को वस्तुतः ध्वनि (व्यंग्यार्थ) के स्थानापन्न रूप में ढालना चाहते थे। वक्रोक्ति को उन्होंने 'विचित्रा अभिधा' (प्रकारांतर से व्यंजना वृत्ति) भी कहा। इस प्रकार इनकी वक्रोक्ति का बीज ध्वनि ही है।

इस प्रकार, उक्त पाँचों काव्यतत्व न केवल ध्वनि के अपितु वक्रोक्ति के भी अनुरूप माने जा सकते हैं। इनके अतिरिक्त, इस दृष्टि से कुछ अन्य पाश्चात्यवाद एवं तत्व लीजिए-

सिसरो (रोमन आचार्य : ईसा की पहली शती ई.) ने 'औचित्य' को भले ही साहित्य का प्राणतत्व माना है, पर वे इसमें 'वक्रता की छटा' का समावेश भी करना चाहते हैं।

लांजाइनस अथवा लोंगिनुस (रोमन आचार्य : तीसरी शती ई.) साहित्य में उदात्त भावना को प्रमुख स्थान देने के पक्ष में है। उनके अनुसार औदात्य के ये पाँच प्रमुख आधार है - (1) परिकल्पना-शक्ति, (2) अंतःप्रेरित आवेग, (3) विचार तथा अभिव्यंजना से संबद्ध अलंकार विधान भाषागत आभिजात्य तथा (5) रचनागत गरिमा। देखा जाए तो ये सभी तत्व 'वक्र उक्ति' अर्थात् लोकोत्तर (लौकिक रूप से भिन्न) उक्ति। का आधार ग्रहण किये बिना संभव नहीं हो सकते। इस प्रकार 'उदात्त भावना' एक दृष्टि से वक्रोक्ति से सम्बद्ध अवश्य है।

---

[1] इस संबंध में पढ़िए डॉ.सत्यदेव चौधरी की पुस्तक 'भारतीय काव्यशास्त्र' में 'काव्य की आत्मा' नामक लेख।

[2] देखिए : 'हिंदी वक्रोक्तिजीवतम्' (दिल्ली विश्वविद्यालय प्रकाशन) टीका आ0 विश्वेश्वर डॉ0 नगेन्द्र लिखित भूमिका के अंतर्गत अथवा 'भारतीय काव्यशास्त्र की भूमिका' (डॉ0 नगेन्द्र) के अंतर्गत 'पाश्चात्य काव्यशास्त्र में वक्रोक्ति'।

[3] 'अभिव्यंजना' पर आगे किंचित् प्रकाश डाला जा रहा है।

दान्ते (13वीं शती ई.) भी उदात्त शैली के पक्षधर हैं और उनके अनुसार यह मसृण और प्रकृत शब्दों से निर्मित होती है 'मसृण' से उनका तात्पर्य है वे शब्द जो न तो ग्राम्य हैं और न अनगढ़ हैं, न बच्चों की बोली के समान तोतले हैं और न नारियों की बोली के समान स्त्रैण हैं। 'प्रकृत' से उनका तात्पर्य है कि ये 'कवि के यथाभीष्ट अभिप्राय के सूचक हैं - कुंतक के शब्दों में कहें तो न ये अन्यून होते हैं और न अनतिरिक्त, अर्थात् ये कवि के अभिप्राय को न तो कम रूप में प्रस्तुत करते हैं और न अधिक रूप में। इस प्रकार दान्ते का 'उदात्त' तत्व भी प्रकारांतर से एक सीमा तक कुंतक के वक्रोक्ति-तत्व को इंगित करता है।

दान्ते के बाद पाश्चात्य काव्येतिहास का **'पुनर्जागरणकाल'** माना जाता है अर्थात् वह काल जिसमें इटली, स्पेन, इंगलैंड आदि में प्राचीन अमर वाङ्मय का पुनरूद्धार भी हुआ और नवीन उत्कृष्ट साहित्य का सृजन अदम्य वेग से हुआ। इस काल के डेनियलो (1536 ई.) के अनुसार काव्य में 'सत्य' (इतिहास घटित अथवा सम्भाव्य घटना) के साथ-साथ कल्पना का मिश्रण भी अनिवार्यतः रहता है - कवि को यथावत् वर्णन का त्याग करना होता है वैसे ही जैसे कुंतक के अनुसार कवि इसे 'वक्रोक्ति' के रूप में ढाल देता है।

इसी काल के मनीषी **पैट्रिजी** के अनुसार काव्य का विषय इतिहास हो, कला हो, या फिर विज्ञान भी क्यों न हो, पर उसका प्रतिपादन 'काव्यमय रीति' में होना चाहिए, यों कहिए कि कवि का अभिव्यक्ति-पक्ष कल्पना-मिश्रित हो और कुंतक के अनुसार 'वक्र' हो।

पाश्चात्य काव्येतिहास में पुनर्जागरण काल के बाद **नव्यशास्त्रवाद** (Neo Classicism) का उदय हुआ। इसका समय 17-18वीं शती माना जाता है। इस वाद का प्रमुख सिद्धांत है कि 'अमर साहित्य का अनुकरण ही साहित्य-रचना की सफलता का रहस्य है। उनके अनुकरण से 'प्रकृति' अर्थात् विवेक और सुरुचि की जागृति होती है। इस वाद के अनुसार काव्य में वक्रता-तत्व का समावेश अनुपादेय एवं हेय है।

इस वाद के सुदृढ़ पोषक फ्रांस के मनीषी **बोइलो** और इंगलैंड के प्रख्यात कवि **पोप** माने जाते हैं, तथा इन दोनों के मध्यवर्ती ड्राइडन की दृष्टि संतुलित है-

1. बोइलो के अनुसार रीतिबद्धता (वक्रता) आडम्बर मात्र है। 'इटली के काव्य में समाविष्ट वक्रता-वैचित्र्य नकली हीरों के समान है।
2. इसी प्रकार पोप ने भी वक्रता-वैचित्र्य को एक ऐसे शीशे के समान कहा जो कि चारों ओर, अपना भड़कीला रंग और चमक-दमक इतना अधिक बखेर देता है कि वर्ण्य विषय दबकर रह जाता है।[1]

ड्राइडन के मत से काव्याभिव्यक्ति संतुलित होनी चाहिए। उसमें प्राचीन अमर साहित्य का अनुकरण आवश्यक तो है, पर इतना नहीं कि वह शास्त्रीय जड़ता से ग्रस्त होकर अपनी जीवन्तता खो दे। अतः इसमें वैचित्र्य और नूतनता का समावेश भी आवश्यक है। इसी वैचित्र्य को कुंतक ने वक्रता, भंगिमा, विच्छित्ति आदि नाम दिया है।

पोप के समसामयिक **एडिसन** (18वीं शती) ने काव्य में कल्पना-तत्व की प्रतिष्ठा करते हुए प्रकारांतर से वक्रता को स्वीकृति प्रदान की। उनके अनुसार किसी वर्णनीय विषय में तभी काव्य-चमत्कार आता है जब उसमें आह्लाद और विशेषतः विस्मय उत्पन्न करने की क्षमता हो। किसी धवल पदार्थ को दुग्ध या बर्फ के समान कह देने से या किसी रंग-बिरंगे पदार्थ को इन्द्रधनुष के समान कह देने मात्र से काव्यचमत्कार उत्पन्न नहीं होता, यह तो लोकवार्ता मात्र है। काव्यचमत्कार के लिए तो सच्चे कवि को किसी ऐसी स्थिति संगति का अन्वेषण करना होता है जो पाठक के मन में विस्मय की उद्धबुद्धि कर सके। यह संगति वक्रता-तत्व के समावेश से ही उद्भासित होकर विस्मयकारी बन जाती है। अब यह वक्रता पर आधारित अभिव्यक्ति 'लोकवार्ता' न कही जाकर 'काव्य' कहलाती है।

एडिसन की उक्त धारणा से हमें बरबस कुंतक का यह कथन स्मरण हो आता है कि काव्य का अर्थ 'सहृदयाह्लादकारी' एवं 'स्वस्पन्द सुंदर' होना चाहिए (व.जी. 1.9)। वक्रता के समावेश से काव्य का अर्थ स्वयं अपने स्पन्दन (प्रभविष्णुता) से सहृदयों के लिए आह्लादजनक बन जाता है।

पाश्चात्य काव्येतिहास में अठारहवीं शती के उत्तरार्ध में रीतिबद्ध एवं रूढ़िबद्ध काव्यशिल्प के विरूद्ध प्रतिक्रिया आरंभ हो गयी। इस मत के प्रणेता मनीषी जन स्वच्छन्दतावादी कहलाते हैं। **स्वच्छन्दतावाद** (Romanticism) से तात्पर्य है कवि-प्रतिभा की स्वतंत्रता तथा कला की स्वच्छन्दता। इस वाद के आरंभिक पक्षधर हैं - लैसिंग, शिलर और गेटे (जर्मनी)। ये नव्यशास्त्रवादियों द्वारा प्रतिपादित रीतिबद्धता

---

[1] तुलनार्थ : भारतीय काव्यशास्त्र में 'चित्रकाव्य'

और रूढिबद्धता को त्याज्य घोषित करते हैं। इनके अनुसार 'प्राचीन' के अनुकरण की अपेक्षा मौलिक सृजन को प्रोत्साहित किया जाना चाहिए।

स्वच्छन्दतावाद का विशिष्ट ढंग से प्रवर्तन **वर्डसवर्थ** द्वारा लिखित 'लिरिकल बेलेड्स' की 'भूमिका' से हुआ है। इसमें उन्होंने अपनी इस मान्यता पर बल दिया कि 'काव्य में कृत्रिम भाषा का प्रयोग नहीं होना चाहिए। कृत्रिम भाषा से उनका तात्पर्य है कि जिसमें अलंकारों का यन्त्रवत् प्रयोग किया गया हो। काव्यभाषा को विभिन्न प्रकार के चमत्कारों, वैचित्र्य-वक्रताओं, चित्रालंकारों, प्रहेलिकाओं आदि के आडम्बर से मुक्त होना चाहिए।'

वर्डसवर्थ काव्य-भाषा को 'जनसाधारण की भाषा' बना देने के पक्ष में हैं। उनकी दृष्टि में समर्थ काव्यभाषा वह होती है जिसकी शब्दावली मानव-व्यवहार की भाषा से गृहीत होते हुए भी उसका चयन सुरुचि एवं सहृदयता के साथ किया जाता हे। इधर कुंतक भी तो इसी आशय पर बल देते हैं कि अनेक पर्याय शब्दों के होते हुए भी सच्चे कवि द्वारा उनमें से चयनित शब्दों का प्रयोग कवि के अभीष्ट अभिप्राय का सूचक होने के कारण सहृदयाह्लादक होता है।

इसके अतिरिक्त वर्डसवर्थ काव्यभाषा में ऐसे अलंकारों तथा वैचित्र्य-सम्पन्न लाक्षणिक प्रयोगों के पक्षधर हैं जो कि वर्ण्य-विषय को प्रस्तुत करते समय स्वतः आवेग-प्रेरित होते हैं, ये कृत्रिम कदापि नहीं होते। इधर आनंदवर्धन ने भी निम्नोक्त वचन में यही आशय प्रकट किया है कि 'प्रतिभावान् कवि का चित्त रचना करते समय जब रस में डूब जाता है तब एक के बाद एक अलंकार मानो "मैं पहले, मैं पहले" कहते हुए उसके आगे स्वतः गिरते-पड़ते चले जाते हैं।' सच्च कवि इनका प्रयोग जान-बूझकर नहीं करता।

वर्डसवर्थ वस्तुतः पूर्ववर्ती बागाडम्बर-प्रिय कवियों की भाषा से क्षुब्ध थे, वे दुरूह एवं नुमायशी वक्रता से पूर्ण तथा अनपेक्षित अलंकारों से बोझिल भाषा को काव्यरचना में अस्वीकृत करते थे, न कि ऐसी भाषा को जो औचित्यपूर्ण वक्रता से युक्त हो, और विषय के पोषक तथा अनायास-प्रयुक्त अलंकारों से शोभित हो।

ठीक यही स्थिति वर्डसवर्थ के परवर्ती आलोचक कवि **मैथ्यू आर्नल्ड** की भी है। उन्होंने वक्रता के स्वच्छंद विलास को तो स्वीकार नहीं किया, पर वक्रता जहाँ औचित्य से अनुशासित होती है, उसे समुचित महत्व अवश्य दिया है। पर हाँ, आर्नल्ड के युग में **टेनीसन** और **स्विनबर्न** जैसे कला-विलासी कवि भी हुए जिनकी कविता में वैचित्र्य-वक्रता का उन्मुक्त विहार है, पर उस युग के अधिकतर समीक्षकों ने आर्नल्ड के ही इस मन्तव्य को ग्राह्य समझा कि काव्य की अभिव्यक्ति में संयम से काम लिया जाए।

विद्वानों ने वक्रोक्ति सिद्धांत की तुलना **क्रोचे के 'अभिव्यंजनावाद'** (Expressionism) से की है।

- देखा जाए तो इधर कुंतक की 'वैदग्ध्य-भंगी-भणिति' अथवा 'वक्र उक्ति' तथा उधर क्रोचे की अभिव्यंजना ये दोनों लगभग पर्यायवाची हैं। इन दोनों तत्वों के अंतर्गत समस्त कविव्यापार, काव्यकौशल तथा कल्पना-तत्व का समावेश हो जाता है।
- कुंतक ने एक स्थान पर संकेत किया है कि सफल कवि ऐसे शब्दों का प्रयोग करते हैं जो उनके तात्पर्य को यथावत् रूप में प्रकट करते हैं- ये शब्द न तो 'अन्यून' होते हैं और न ये 'अनतिरिक्त' होते हैं (वक्रोक्तिजीवित)। क्रोचे की भी यही मान्यता है - वे उक्ति को अद्वितीय मानते हैं, अर्थात् कवि की रचना इससे न तो कम रूप में शोभा पाती है और न इससे अधिक।
- दोनों आचार्यों में एक साम्य और भी है। कुंतक का कहना है कि काव्य-रीतियों (वैदर्भी, गौड़ीया और पांचाली नामक रीतियों) को उत्तम, मध्यम और अधम नहीं मानना चाहिए, काव्यसौंदर्य की दृष्टि से ये तीनों एक-समान होती हैं। उधर क्रोचे भी यही मानते हैं कि एक सफल अभिव्यंजना और दूसरी सफल अभिव्यंजना में श्रेणीभेद नहीं होता, ये दोनों अभिव्यंजनाएँ एक-समान होती हैं।

वक्रोक्ति और अभिव्यंजनावाद में परस्पर अंतर भी है। कुंतक वक्रता और वार्ता में भेद स्वीकार करते हैं, पर क्रोचे दोनों अभिव्यक्तियों को काव्य मानते हैं। कुंतक के अनुसार काव्य का सर्वस्व 'कविव्यापार' है तो क्रोचे के अनुसार 'सहजानुभूति' है आदि-आदि।

इधर आधुनिक हिंदी आचार्यों में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल[1] मात्र 'वक्र उक्ति' को काव्य नहीं मानते, वे इसे सूक्ति का एक रूप मानते हैं अथवा चमत्कार मात्र। इसके विपरीत वे 'भाव-प्रेरित वक्र उक्ति' को काव्य मानते हैं।

डॉ. नगेन्द्र के अनुसार कुंतक ने वक्रोक्ति सिद्धात के माध्यम से काव्यकला का व्यापक, गहन, मार्मिक तथा अति व्यवस्थित विवेचन किया है, जो कि भारतीय सौंदर्य शास्त्र में एक नूतन पद्धति को उद्घटित करता है।

6.4 औचित्य सिद्धांत (औचित्य संप्रदाय)

'औचित्य-तत्त्व' के प्रवर्तन का श्रेय **क्षेमेन्द्र** (11वीं शती) को दिया जाता है, किंतु वस्तुतः, यह इसके प्रवर्तक न होकर व्यवस्थापक हैं। इनसे पूर्व भरत, भामह, दण्डी, उद्भट, रूद्रट, आनंदवर्धन, कुंतक और महिमभट्ट के ग्रंथों में इस तत्व के संबंध में साक्षात एवं असाक्षात् रूप से पर्याप्त सामग्री मिल जाती है। इनमें से सर्वाधिक प्रकाश आनंदवर्धन ने डाला है।

1. भरत के नाट्यशास्त्र में 'औचित्य' शब्द का प्रयोग न होते हुए भी इसके संबंध में अनेक स्थलों पर पर्याप्त संकेत मिल जाते हैं -

- 'जिस पात्र के लिए जैसी भूमिका एवं चेष्टा उचित हो वह वैसी होनी चाहिए'।[2]

जैसा कि हम आगे देखेंगे, क्षेमेन्द्र ने भी 'उचित' शब्द के स्वरूप-निर्देश में संभवतः भरत का ही अनुकरण करते हुए कहा है कि जो जिसके सदृश हो उसे उचित कहते हैं - 'उचितं प्राहुराचार्याः सदृशं किल यस्त तत्। (औचित्यविचारचर्चा)

- अभिनेता का 'वेष' आयु के अनुरूप, 'गतिप्रचार' (शारीरिक चेष्टाएं) वेष के अनुरूप होना चाहिए।[3]
- अटापटा वेष अभिनेता के फूहड़पन को द्योतित करता है - मेखला को कटि पर धारण न कर कण्ठ में धारण कर लेने से वह उपहास का पात्र बन जाता है।[4] नाट्य वही सिद्ध होता है, जो 'लोकस्वभावज' हो। वस्तुत: नाट्य प्रयोगों में 'लोक' ही प्रमाण होता है-

  लोकसिद्धं भवेत्सिद्धं नाट्यं लोकस्वभावजम्।
  तस्मान्नाट्यप्रयोगेषु प्रमाणं लोक इष्यते।। (नाट्यशास्त्र)

2. भामह के ग्रन्थ काव्यालंकार में भी 'औचत्य' शब्द का प्रयोग न होते हुए भी इस तत्व के द्योतक अनेक कथन मिल जाते है -

⇨ भरत ने 'नाट्य' को 'लोकस्वभावज' कहा था तो भामह के शब्दों में महाकाव्य' लोक-स्वभाव-युक्त' होना चाहिए-

युक्तं लोकस्वभावेन रसैश्च सकलै: पृथक। (काव्यालंकार 1.21)

⇨ दोष माना कि दोष है, किन्तु वह प्रयोग-विवेक के बल पर कहीं दोष नहीं रहता, और कहीं तो गुण बन जाता है। इस सम्बन्ध में भामह के अनेक कथन औचित्य-तत्व के द्योतक हैं। दो स्थल लीजिए-

(क) विशेष परिस्थिति के कारण सदोष कथन भी शोभित होने लगता है। जैसे पुष्पमाला के बीच-बीच गुथा हुआ नील-पलाश भी शोभित होने लगता है।[5]

---

[1] आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के मंतव्यों से ऐसा प्रतीत होता है कि उन्हें संभवतः 'वक्रोक्तिकाव्यजीवितम' ग्रंथ उपलब्ध नहीं हुआ था।

[2] (क) यादृश्यो यस्य कर्तव्या विन्यासे भूमिकास्ततः।।
(ख) या सस्य सदृश चेष्टा ह्युतमाधममध्यमा।। (नाट्यशास्त्र 35.1)

[3] वयोऽनुरूपः प्रथमस्तु वेषो, वेषानुरूपश्च गतिप्रचारः।
गतिप्रचारानुगतं च पाठयम्, पाठ्यानुरूपोऽभिनयश्च कार्यः।। (ना.शा. 14.68)

[4] अदेशजो हि वेषस्तु न शोभां जनयिष्यति।
मेखलोरसि बंधे च हास्यायैवोपजायते।। (ना.शा.)

[5] सन्निवेशविशेषातु दुरूक्तमपि शोभते।
नीलं पलाशमाबद्धमन्तराले स्रजामिव।। (काव्यालंकार 1.54)

(ख) कोई असाधु वस्तु भी आश्रय के सौन्दर्य से अत्यन्त सुन्दर बन जाती है, जैसे-कज्जल स्वभावत: काला होता है, किन्तु सुन्दर स्त्री के नेत्रों में अंजित होने पर उसकी शोभा बढ जाती है।[1]

3. इसी प्रकार दण्डी ने भी दोष के निवारण तथा गुणत्व के सम्बन्ध में बहुविध सामग्री प्रस्तुत की है। उदाहरणार्थ -

- कवि-कौशल के बल पर देशगत कालगत आदि विरोध दोषत्व को छोड़ गुण बन जाते हैं। दूसरे शब्दों में, यदि कोई कवि अपने काव्य में इन दोषों का औचित्य देखते हुए इनका प्रयोग जानबूझ कर करता है तो वहाँ ये दोष गुण बन जाते हैं।[2]

4. उद्भट के अनुसार ऊर्ज़स्वि अलंकार वहाँ माना जाता है जब काम, क्रोध आदि के (अनुचित प्रयोग) के कारण रसों और भावों की अनौचित्यपूर्ण रचना की जाए।[3]

5. इनके पश्चात् काव्याचार्यों में रूद्रट ने संभवत: सर्वप्रथम 'औचित्य' और 'अनौचित्य' शब्द का प्रयोग करते हुए औचित्य की महत्ता का स्पष्ट संकेत किया है। उनके कथनानुसार-

- वैदर्भी और पांचाली रीतियों का प्रेयान्, करूण, भयानक और अद्भुत रसों में तथा लाटीया और गौडीया का रौद्र रस में प्रयोग औचित्य-पूर्वक करना चाहिए।[4]

रूद्रट ने इसी प्रसंग में 'अनौचित्य' शब्द का प्रयोग भी किया है। उनके अनुसार ग्राम्य वहाँ दोष माना जाता है जहाँ कुल, जाति, विद्या, वित्त, आयु, स्थान और पात्र इन (आठों विषयों) में व्यवहार, आकार, वेश और वचन का अनौचित्य हो।

6. इन सबके पश्चात् आनन्दवर्धन ने अलंकार, गुण, संघटना, प्रबन्ध, वृत्ति (रसवृत्ति) तथा भाषा के प्रयोग के औचित्य पर पर्याप्त प्रकाश डालते हुए क्षेमेन्द्र के लिए इस तत्व को प्रतिपादित करने का द्वार खोल दिया। विशिष्ट स्थल देखिए-

अलंकार का औचित्य इसी में है कि वह रस, भाव आदि के तात्पर्य (चमत्कार-वृत्ति) का साधन बन कर रहे।[5] अलंकार का बन्ध रस को ध्यान में रखते हुए ऐसे सहज भाव से होना चाहिए कि रचना करते समय न तो कवि को इसके समावेश के लिए कोई पृथक् अभ्यास करना पड़े, और न ही पाठक को कोई अलंकार-विशेष पृथक रूप से आभासित हो सके।[6] इसके अतिरिक्त अलंकार के के प्रयोगौचित्य के सम्बन्ध में आनन्दवर्धन ने अनेक नियम भी निर्धारित किये हैं।

गुण का औचित्य इसी में है कि गुण रस का धर्म बनकर रहे। शृंगार आदि कोमल रसों के आस्वाद से क्षण भर पूर्व घटित सहृदय के चित्त की 'द्रुति' माधुर्य गुण कहलाती है। इसी प्रकार रौद्र आदि कठोर रसों के आस्वाद से क्षण भर पूर्व घटित-सहृदय के चित्त की - 'दीप्ति' ओज गुण कहलाती है। इसके अतिरिक्त माधुर्य गुण की अभिव्यंजना, कोमल वर्ण-योजना के माध्यम से भी, प्रकारान्तर से होती है, जिसका प्रयोग शृंगार आदि कोमल रसों में करना चाहिए। इसी प्रकार ओज गुण की अभिव्यंजना, कठोर वर्णयोजना के माध्यम से भी, प्रकारान्तर से होती है, जिसका प्रयोग वीर रौद्र आदि कठोर रसों में करना चाहिए। शब्दार्थ की स्वच्छता को-चाहे वह किसी रस में हो-प्रसाद गुण कहते हैं।

संघटना से आनन्दवर्धन का अभिप्राय है असमासा मध्यमसमासा, और दीर्घसमासा रचना। संघटना का औचित्यपूर्ण प्रयोग इसी में है कि वह माधुर्य आदि गुणों के आश्रित रहकर रसाभिव्यक्ति में सहायक

---

[1] किंचित् आश्रयसौंदर्यात् धते शोभामसाध्वपि।
कांता-विन्यस्त-न्यस्तं मलीमसमिवांजनम्।। (का.अ. 1.55)

[2] विरोधो सकलोऽप्येष कदाचित् कवि-कौशलात्।
उत्क्रम्य दोषगणानां गुणवीथिं विगाहते।। (काव्यालंकार 3.179)

[3] अनौचित्यप्रवृत्तानां कामक्रोधादिकारणात्।
भावनां च रसानां च बंध ऊर्जस्वि कथ्यते।। (काव्यालंकारसारसंग्रह, चतुर्थ वर्ग)

[4] वैदर्भीपांचाल्यौ प्रेयसि करूणे भयानकाद्भुतयोः।
लाटीयागौडीये रौद्रे कुर्याद् यथोचित्यम्।। (काव्यालंकार 15.20)

[5] रसभावादितात्पर्यमाश्रित्य विनिवेशनम्।
अलंकृतीनां सर्वासामलंकारत्वसाधनम्।। (ध्वन्यालोक 3.6)

[6] रसाक्षिप्ततया यस्य बंधः शक्यक्रियो भवेत्।
अपथग्प्रयत्ननिर्वर्त्यः सोऽलंकारो ध्वनौ मतः।। (ध्वन्या 2.17)

बने। इसका प्रयोग वक्ता, वाच्य, विषय और रस-इन चारों के औचित्य को ध्यान में रखकर करना चाहिए।

इसके अतिरिक्त आनन्दवर्धन ने भाषा के विभिन्न अवयवों-सुबन्त (विभक्ति) तिङन्त (क्रिया-रूप), वचन, कारक, कृदन्त, तद्धित, समास, निषात, उपसर्ग, काल आदि के संबंध में भी कहा है कि काव्य में इनके विशेष अर्थात् औचित्यपूर्ण प्रयोग द्वारा रस की अभिव्यक्ति की जा सकती है। (ध्वन्यालोक 3.16 वृत्ति)

अस्तु ! इस प्रकार आनन्दवर्धन ने 'औचित्य' के सम्बन्ध में सर्वप्रथम सर्वाधिक सामग्री प्रस्तुत करते हुए यह धारणा स्थिर की कि विभिन्न काव्य-तत्वों का औचित्य इसी में है कि इनका रसानुकूल प्रयोग किया जाए, और इस प्रकार उन्होंने काव्य-सौन्दर्य के विधान में औचित्य को गौरवपूर्ण स्थान प्रदान किया, और 'अनौचित्य' को रसभंग का सर्वप्रमुख कारण बताया-

अनौचित्याद् ऋते नान्यद् रसभंगस्य कारणम्।
प्रसिद्धोचित्यबन्धस्तु रसस्योपनिषत् परा।। (ध्वन्या.3.14, वृत्ति)

7. आनन्दवर्धन के बाद महिमभट्ट ने अपने ग्रन्थ व्यक्तिविवेक में काव्य-दोष को 'अनौचित्य' नाम दिया है। अनौचित्य कहते हैं जो रसादि की प्रतीति में विघ्न उपस्थित करता है।

8. इनके पश्चात् इस दृष्टि से रामचन्द्र-गुणचन्द्र का नाम उल्लेख्य है, जिन्होंने पाँच रस दोषों में से एक रसदोष 'अनौचित्य' को भी माना, जिसका लक्षण है -- सहृदयानां विचिकित्सा-हेतु कर्म अनौचित्य (नाट्यदर्पण, 3.125) अर्थात्, जो कर्म सहृदयों के चित्त में क्षोभ उत्पन्न करता है, अनौचित्य कहलाता है।

यह तो रहा औचित्य तत्व का विवरण जो कि क्षेमेन्द्र से पूर्ववर्ती आचार्यों द्वारा प्रस्तुत हुआ है। इनके पश्चात् **क्षेमेन्द्र ने अपने ग्रन्थ 'औचित्यविचारचर्चा'** में 'औचित्य' का विस्तृत विवेचन किया है - 'उचित के भाव को औचित्य कहते हैं। जो जिसके सदृश (अनुकूल) हो, उसको, अर्थात् उसके अनुरूप प्रस्तुति को, 'उचित' कहते हैं' -

उचितं प्राहुराचार्याः सदृशं किल यस्य यत्।
उचितस्य च यो भावस्तदौचित्यं प्रचक्षते।।

उनके कथानुसार काव्य यद्यपि रस-सिद्ध होता है, किंतु उसका स्थिर-अनवर - 'जीवित' तो औचित्य ही है -

औचित्यं रससिद्धस्य स्थिरं काव्यस्य जीवितम्।।

किंतु साथ ही, उन्होंने एक अन्य स्थल पर औचित्य को काव्य का चमत्कारी कहते हुए रस का भी 'जीवित' कहा है -

औचित्यस्य चमत्कारकारिणश्चारूचर्वणे।
रसजीवितभूतस्य विचारं कुरूतेऽधुना।।

क्षेमेन्द्र ने काव्य के निम्नोक्त 27 काव्यांगों की परिगणना करते हुए कहा कि इन सभी अंगों में एकमात्र व्यापक जीवन औचित्य ही है, अर्थात् काव्य में इन सभी काव्यतत्वों का प्रयोग औचित्य-पूर्ण होना चाहिए-

काव्यस्यांगेषु च प्राहुरौचित्यं व्यापि जीवितम्।।

वे 27 काव्यांग इस प्रकार हैं, जिन्हें हम निम्नोक्त तीन वर्गों में विभक्त कर सकते हैं -

क) **भाषा-विषयक** : पद, वाक्य, क्रिया, कारक, लिंग, वचन, विशेषण उपसर्ग, निपात और काल।

ख) **काव्यशास्त्र-विषयक** : प्रबंधार्थ, गुण, अलंकार और रस। इनके अतिरिक्त 'नाम' को परिकर अलंकार और 'अभिप्राय' को 'व्यंग्यार्थ' का पर्याय मानते हुए इन दोनों को भी इसी वर्ग में रख सकते हैं।

ग) **वर्ण्य-विषयक** : देश, कुल, व्रत, तत्त्व, सत्व, स्वभाव, सारसंग्रह, प्रतिभा, अवस्था (वयः), विचार और आशीर्वचन।

यह उल्लेख्य हैं कि क्षेमेन्द्र को केवल यही 27 काव्यांग अभीष्ट नहीं हैं, ये इनसे अधिक भी हो सकते हैं।[1]

क्षेमेन्द्र ने इस सभी काव्यांगों के उदाहरण-प्रत्युदाहरण प्रस्तुत करते हुए क्रमशः यह प्रतिपदित किया है कि काव्य इन अंगों के औचित्यपूर्ण प्रयोग से उपादेय बनता है, और अनौचित्यपूर्ण प्रयोग से अनुपादेय। उनके कथनानुसार, औचित्यपूर्ण प्रयोग के बल पर ही अलंकार और गुण अपने-अपने नाम के वास्तविक अधिकारी हैं, अन्यथा नहीं। सच्चे अर्थों में अलंकार उसे कहना चाहिए जिसका उचित स्थान पर विन्यास किया गया हो, और गुण भी वही मानना चाहिए जा औचित्य से सम्पन्न हो -

उचितस्थानविन्यासादलंकृतिरलंकृतिः।
औचित्यादच्युता नित्यं भवन्त्येव गुणाः गुणाः।।

ऐसा अलंकार व्यर्थ है, और ऐसा गुण भी मिथ्या है, जिसका जीवित औचित्य न हो, अर्थात् जिसका प्रयोग औचित्यपूर्ण नहीं किया गया-

काव्यस्यालमलंकारैः किं मिथ्यागणितैर्गुणैः।
यस्य जीवितमौचित्यं विचिन्त्यापि न दृश्यते।।

अर्थ (वर्ण्य विषय) के औचित्य के अनुरूप अलंकार-प्रयोग के द्वारा कवि का सुन्दर कथन इस प्रकार शोभित हो उठता है, जिस प्रकार पीन-स्तन पर धारण किये हुए हार से कोई मृगनयनी सुन्दरी शोभित होती है-

अर्थौ चित्यवता सूक्तिरलंकारेण शोभते।
पीनस्तनस्थितेनेव हारेण हरिणेक्षणा।।

ठीक इसी प्रकार के कथन क्षेमेन्द्र ने लगभग सभी काव्यांगों के सम्बन्ध में कहे हैं। रस के औचित्य के सम्बन्ध में क्षेमेन्द्र ने दो कथन प्रस्तुत किए हैं -

क) औचित्यपूर्ण प्रयोग के कारण रस रूचितर रूप में प्रस्तुत होकर सहृदय के मन को उस प्रकार उल्लसित करता है, जिस प्रकार वसन्त ऋतु अशोक वृक्ष को उल्लसित करती है।[2] इसी प्रकार-

ख) शृंगार आदि रस कौशलपूर्वक परस्पर संयोजित किये जाने पर उस प्रकार विचित्र आस्वाद को प्राप्त कराते हैं, जिस प्रकार मधुर, तिक्त आदि रस। अत: इनके परस्पर-मिश्रण में औचित्य की रक्षा अवश्य करनी चाहिए। पर अनौचित्य के स्पर्श मात्र से भी (दूषित) रसों का मिश्रण भला किसे अभीष्ट हो सकता है?

क्षेमेन्द्र के अनुसार इन सभी अंगो में एकमात्र व्यापक जीवन औचित्य ही है, अर्थात् काव्य में इन सगी काव्य-तत्वों का प्रयोग औचित्य-पूर्ण होता चाहिए- 'काव्यस्यांगेषु च प्राहुरौचित्यं व्यापि जीवितम्।।'

यथा, अलंकार और गुण के सम्बन्ध में उनका मन्तव्य है कि जब इनका उचित प्रयोग किया जाएगा तभी ये अलंकार अथवा गुण कहलाएँगे, अन्यथा नहीं। उदाहरणार्थ, र और ल जैसे कोमल वर्णों की आवृत्ति से जन्य अनुप्रास अलंकार का प्रयोग विप्रलम्भ शृंगार में तो औचित्यपूर्ण है, किन्तु इसके विपरीत यदि शृंगार रस में टवर्ग का अनुप्रास कर दिया जाए तो यह औचित्यपूर्ण नहीं होगा। इसी प्रसंग में भूषण कवि का निम्नोक्त पद्य लीजिए जिसमें वीर रस के प्रसंग में अनुप्रास अलंकार का प्रयोग अत्यन्त औचित्यपूर्ण हुआ है, किन्तु शृंगार अथवा करूण रस में ऐसा प्रयोग औचित्यपूर्ण नहीं होगा-

क) दुग्ग पर दुग्ग जीते सरजा सिवाजी गाजी,
दुग्ग नाचे दुग्ग पर रुंड मुंड फरके।

ख) पील खन डील जहाँ गिरि से गिरन लागे,
मुंड मतवारे गिरैं झुंड मतवारे से।।

क्षेमेन्द्र के अनुसार रस काव्य का प्राण अवश्य है, किन्तु जब तक वह भी औचित्य से रूचिर नहीं होता तब तक वह सहृदयों के चित्त को आकर्षित नहीं कर सकता। इस प्रसंग में जयशंकर प्रसाद की एक कविता लीजिए जिसमें उन्होंने वीभत्स रस का औचित्यपूर्ण प्रतिपादन किया है-

---

[1] अन्येषु वा काव्यांगेषु अन्यैव दिशा स्वयमौचित्यमुत्प्रेक्षणीयम्। (औ.वि.च. : अंतिम स्थल)

[2] कुर्वन् सर्वाशये व्याप्तिमौचित्यरुचिरो रसः।
मधुमास इवाशोकं करोत्यंकुरितं मनः।।

दुर्बलता इस अस्थिमांस की
ठोंक कर लोहे से, परख कर वज्र से,
प्रलयोल्का, खंड के निकष पर कस कर
चूर्ण अस्थिपुंज सा हँसेगा अट्टाहास कौन ?
साधना पिशाचों की बिखर चूर-चूर होके,
धूलि सी उड़ेगी किस द्रुत फूत्कार से।

अब एक उदाहरण रस-संकर के औचित्य का लीजिए-

है यह सत्य कि होती मनोरम नारी,
यह भी सत्य कि सम्पद् होती मनोहर है,
क्षणभंगुर यह जीवन किन्तु ऐसा.....
होते चपल कटाक्ष हैं जैसे, मदमाती रमणी के।[1]

यहाँ शान्त रस का अंग रूप में वर्णित करते हुए शृंगार रस की प्रस्तुति की गयी है, अतः यहाँ इन दोनों रसों का संकर औचित्यपूर्ण है।

इस प्रकार क्षेमेन्द्र ने औचित्य के विविध प्रकारों का विधान करते हुए यह प्रमाणित किया है कि इसका अनुधावन या पालन किए बिना काव्य और नाटक दोनों में रमणीयता नहीं आती।

अब अंत में यह समस्या विचारणीय है कि क्या औचित्य को काव्य की आत्मा मानना संगत है, और इसी आधार पर क्या इसे विशिष्ट सिद्धान्त अथवा सम्प्रदाय कहना संगत है। इस सम्बन्ध में अधिकांश विद्वानों का विचार है कि औचित्य कोई अलग सिद्धान्त न होकर विभिन्न काव्यांगों को परिष्कृत एवं उपादेय बनाने का हेतुमात्र है। गुण, अलंकार, रस, आदि सभी 27 काव्य-तत्वों के सम्बन्ध में उनकी एक ही धारणा है कि इनका प्रयोग औचित्य-पूर्ण ही होना चाहिए। इसी के बल पर ये काव्यांग अपने यथावत् रूप में प्रस्तुत हो सकते हैं, अन्यथा नहीं। निसन्देह क्षेमेन्द्र ने औचित्य को काव्य का 'जीवित' कहा है, किन्तु यहाँ जीवित शब्द आत्मा का पर्याय नहीं है, अपितु इससे तात्पर्य है- किसी काव्यांग को उपादेय बनाने का हेतु। अतः औचित्य को काव्य की आत्मा मानना संगत नहीं है।

इसी संबंध में यह भी उल्लेख्य है कि अलंकार, रीति, वक्रोक्ति और रस - इन पाँचों काव्य-सिद्धांतों के प्रवर्तक एवं अनुमोदक या तो अपने मान्य सिद्धांत के अंतर्गत अन्य काव्य-तत्वों को समाविष्ट करते हैं, जैसे अलंकारवादी, रीतिवादी एवं वक्रोक्तिवादी, अथवा अन्य काव्यांगों को अपने मान्य सिद्धांत के परिपोषक रूप में स्वीकृत करते हैं, जैसे ध्वनिवादी एवं रसवादी। किंतु क्षेमेन्द्र इनमें से किसी आधार को नहीं अपनाते। यह सभी काव्यांगों को स्वीकार करते हुए केवल

सत्यं मनोरमा रामाः सत्यं रम्या विभूतयः।
किंतु मत्तांगनापांगभंगलोलं हि जीवितम्।। (औ.वि.च.18, वृत्ति)

उनके औचित्यपूर्ण प्रयोगा पर ही बल देने के पक्ष में है। अतः औचित्य को काव्य की आत्मा अथवा कोई स्वतत्र सिद्धांत न मानकर इसे तभी काव्य-तत्वों का उत्कर्षक एवं उपादेन ही स्वीकार करना चाहिए।

6.5 समाहार और निष्कर्ष

निस्संदेह भारतीय काव्यशास्त्र रस-सिद्धांत सबसे प्राचीन काव्य-सिद्धांत/काव्य संप्रदाय रहा है। अलंकार, रीति, ध्वनि, वक्रोक्ति तथा औचित्य सिद्धांतों का विकास इसके पश्चात् और इसी के संदर्भ में हुआ है। काव्य के अंतरंग और बहिरंग की बहस को यदि आत्मा और देह के आधार पर विभक्त किया जाए तो अलंकार, रीति तथा वक्रोक्ति को देहवादी तथा रस ध्वनि और औचित्य को आत्मवादी संप्रदाय कहा जा सकता है।

डॉ. नगेन्द्र ने लिखा है - 'आत्मवादी संप्रदायों का तो रस-सिद्धांत से मात्र प्रत्यक्ष और घनिष्ठ संबंध हैं। एक प्रकार से ध्वनि और औचित्य दोनों की ही कल्पना रस के आधार पर की गई है। औचित्य सिद्धांत के प्रवर्तक ने स्पष्ट रूप से और आरंभ में ही कहा 'औचित्य रससिद्धस्य स्थिर काव्यरूप जीवितम्'।

---

[1] सत्यं मनोरमा रामाः सत्यं रम्या विभूतयः।
किंतु मत्तांगनापांगभंगलोलं हि जीवितम्।। (औ.वि.च.18, वृत्ति)

वास्तव में औचित्य के भवन का निर्माण ही आनंदवर्धन के इस प्रसिद्ध वाक्य के आधार पर हुआ है 'प्रसिद्धौचित्य बंधस्तु रसस्योपनिषत् परा' इसमें संदेह नहीं कि ध्वनिकार ने रस के स्थान पर ध्वनि को काव्य की आत्मा माना है फिर भी संपूर्ण ध्वनि सिद्धांत रस की भावना से ओतप्रोत है।' आनंदवर्धन तथा उनके अनुयायी सभी ध्वनिवादियों ने स्थान-स्थान पर रस की महत्व प्रतिष्ठा की ओर रसध्वनि को काव्य का उत्तमोत्तम रूप मानकर यह सिद्ध कर दिया कि काव्य की आत्मा ध्वनि है और ध्वनि की आत्मा रस है। रस सिद्धांत भाव तत्व पर अधिक बल देता है और ध्वनि सिद्धांत भाव की व्यंजना पर। काव्य में ध्वनि और रस का सहयोग एक प्रकार से कल्पना और भावना का सहयोग है क्योंकि भावना या कल्पना के बिना काव्यात्मकता की सिद्धि संभव नहीं है। आत्मवादी मानते हैं कि कविता अनुभूति रूप है जिसमें कल्पना और विचार तत्व का योग रहता है।

वस्तुवादी या देहवादी आचार्य काव्य के बाहरी सौंदर्य पर बल देते हैं। भाव या विचार की उपेक्षा वे भी नहीं करते किंतु उनकी दृष्टि से वह गौण है देहवादी आचार्यों के मत से काव्यात्मकता या कवित्व कथन की चारूता का ही अंग है। अलंकारवादी, रीतिवादी, वक्रोक्तिवादी सिद्धांतों के अनुसार रस या भाव कवित्व का सार तत्व न होकर उपकरण मात्र है उदाहरण के लिए अलंकार सिद्धांत के अनुसार अलंकार ही काव्यशोभा के कारण हैं इस कथन का अर्थ हुआ काव्य का सौंदर्य अलंकार पर आश्रित है। अलंकार शब्दार्थ के धर्म हैं साधारण धर्म नहीं विशेष धर्म जो शब्दार्थ में सौंदर्य की सृष्टि कर उसे काव्य का रूप प्रदान करते हैं।

रीति संप्रदाय भी अलंकारवादी संप्रदाय की भाँति रस या ध्वनि के बहुत अनुकूल नहीं है। रीति संप्रदाय के प्रतिष्ठापक आचार्य वामन के अनुसार रीति ही काव्य की आत्मा है और रस रीति के आधारभूत बीस गुणों में से एक (अर्थ गुण) कोटि का मूल तत्व है। यहाँ रस रीति का एक पोषक तत्व है अर्थात् रस की दीप्ति रीति की शोभा का पोषण करती है यही उसकी सार्थकता है। रस का सीधा संबंध गुण के साथ है और गुण शब्दार्थ रूप काव्य का नित्य धर्म है। वर्ण विन्यास और शब्द विन्यास से निर्मित रीति गुण पर आश्रित है और गुण रस के धर्म हैं। रीति शब्द और अर्थ का मिश्रित रचना चमत्कार का नाम है जो माधुर्य-ओज अथवा प्रसाद के द्वारा चित्त को द्रवित, दीप्त और विशद करती हुई रस दशा तक पहुँचाने में सहायक होती है।

वक्रोक्तिकार कुंतक ने वक्रोक्ति को ही काव्य की आत्मा घोषित किया। वक्रोक्ति काव्यजीवितम् में उन्होंने काव्य के लक्षण और प्रयोजन के अंतर्गत रस के महत्व को स्वीकार किया और कई बार तो यहाँ तक कह दिया कि वक्रोक्ति सिद्धांत के अंतर्गत काव्य का प्रधान तत्व रस ही है। कुंतक का मूल कथन यह है कि अलंकार रूपिणी वक्रोक्ति ही काव्य का प्राण है। इस सिद्धांत के अनुसार काव्य का प्राण तो वक्रोक्ति ही है। इस प्रकार वक्रोक्ति संपूर्ण कला के सौंदर्य का पर्याय है। वक्रोक्ति का मूल आशय यही है कि काव्य प्रधान रूप से कला है अनुभूति नहीं इस कला की रचना के लिए कवि शब्द-अर्थ की अनेक शक्तियों का प्रयोग करता है रस काव्य की निधि है किंतु काव्य की प्राण चेतना तो वक्रता ही है।

औचित्य सिद्धांत को विषय में बहुत अलग से विवेचन की आवश्यकता इसलिए भी नहीं है कि उसकी कल्पना तो रस सिद्धांत के परिवेश में ही की गई है। यह सच है कि औचित्य सिद्धांत का विकास रस सिद्धांत में से ही हुआ है अतः एक प्रकार से वह रस का अंग ही है रस की परिधि में ही औचित्य की सत्ता और सार्थकता है।

अन्य संप्रदायों की भाँति ध्वनि संप्रदाय का जन्म भी उसके प्रतिष्ठात्मक आचार्य के जन्म से पहले हुआ था स्वयं ध्वनिकार ने स्पष्ट कहा है कि काव्य की आत्मा ध्वनि है ऐसा मेरे पूर्ववर्ती आचार्यों का मत है वास्तव में इस सिद्धांत के मूल संकेत उनके समय के बहुत पहले वैयाकरणों के सूत्रों में - विस्फोट आदि के विवेचन में - मिलते हैं इसके अतिरिक्त भारतीय दर्शन में व्यंजना एवं अभिव्यक्ति (दीपक से घर) की विचार चर्चा भी कम प्राचीन नहीं है। ध्वनिकार से पहले रस अलंकार और रीतिवादी अपने-अपने सिद्धांतों की तार्किक महत्व प्रतिष्ठा कर चुके थे। नवीं शताब्दी के मध्य में 'ध्वन्यालोक' की रचना हुई यह एक युग प्रवर्तक ग्रंथ है जिसने व्यंजना पर आश्रित ध्वनि को काव्य की आत्मा घोषित किया। ध्वनिकार के सामने निश्चित दो लक्ष्य थे (1) ध्वनि सिद्धांत की महत्व प्रतिष्ठा तथा युग यह सिद्ध करना कि पूर्ववर्ती किसी सिद्धांत के अंतर्गत उसका समाहार नहीं हो सकता। (2) रस, अलंकार, रीति ध्वनि, आदि सिद्धांतों का अच्छी तरह परीक्षण करते हुए ध्वनि के साथ उनका संबंध स्थापित करना और इस प्रकार सर्वांगपूर्ण सिद्धांत की रूपरेखा सामने ला देना। इस कार्य में ध्वनिकार अभिनवगुप्त की प्रतिभा से सफल भी हुए। किंतु आधुनिक विद्वान ध्वनि सिद्धांत को रस सिद्धांत का ही एक अंग मानते हैं और यह बात काफी हद तक उचित भी प्रतीत होती है।

6.6 कुछ उपयोगी पुस्तकें

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, **रस मीमांसा**, काशी नागरी प्रचारिणी सभा, काशी।

डॉ. नगेन्द्र, **रस सिद्धांत**, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली।

डॉ. नगेन्द्र, **भारतीय काव्यशास्त्र की भूमिका**, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली।

डॉ. नगेन्द्र, **रीतिकाव्य की भूमिका**, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली।

डॉ. सत्यदेव चौधरी, **भारतीय काव्यशास्त्र**, अलंकार प्रकाशन, दिल्ली-110 051।

धीरेन्द्र वर्मा (संपा.) **हिंदी साहित्य कोश (भाग-1)**, ज्ञानमंडल लिमिटेड, वाराणसी।

6.7 अभ्यास के लिए प्रश्न

1. ध्वनि सिद्धांत की प्रमुख स्थापनाओं पर विचार कीजिए।
2. रस और ध्वनि का अंतर स्पष्ट करते हुए रस-ध्वनि, वस्तु-ध्वनि और अलंकार-ध्वनि पर प्रकाश डालिए।
3. वक्रोक्ति सिद्धांत की मूल स्थापनाओं पर प्रकाश डालिए।
4. ध्वनि-सिद्धांत का खंडन करते हुए कुंतक ने वक्रोक्ति सिद्धांत की स्थापना क्यों की है। तर्क संगत उत्तर दीजिए।
5. 'औचित्य सिद्धांत अलग से सिद्धांत न होकर रस, रीति, ध्वनि आदि सिद्धांतों का समन्वय मात्र है।' इस कथन की व्याख्या कीजिए।